वार्षिक रु. ८०
मूल्य रु. १०
विवेक ज्योति
वर्ष ५३ अंक २
फरवरी २०१५
VIVEKANANDA
WAS BORN
IN THIS HOUSE
ON
12 JANUARY 1863
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २०१५

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५३
अंक २

वार्षिक ८०/– **एक प्रति १०/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ३७०/–
आजीवन (२० वर्षों के लिए) – रु. १,४००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएं

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ११०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ५००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

१. शिव और श्रीरामकृष्ण के भजन ताथैया ताथैया नाचे भोला (स्वामी विवेकानन्द); दरशन दो भोलेनाथ मुझे एकबार, जय शंकर त्रिपुरारी, श्रीरामकृष्ण देव की आरती, रामकृष्ण पद आस (स्वामी प्रपत्त्यानन्द) ५४
२. श्रीरामकृष्णवन्दना (स्वामी गीतेशानन्द) ५५
३. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) ५५
४. सम्पादकीय : क्या हम ईश्वर की पुकार सुन रहे हैं? ५६
५. मेरा जीवन, मेरा कार्य (५०) जीवन का अन्तिम पर्व (स्वामी विवेकानन्द) ५८
६. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ५९
७. धर्म-जीवन का रहस्य (६/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ६०
८. सारगाछी की स्मृतियाँ (२८) (स्वामी सुहितानन्द) ६३
९. साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद् (२) (स्वामी आत्मानन्द) ६५
१०. स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त (आश्चर्यलोक में एलिस और संसार-वृक्ष के दो पक्षी) ६७
११. श्रीरामकृष्ण देव की भक्ति-साधना (स्वामी निखिलात्मानन्द) ६८
१२. श्रीमाँ सारदा का अन्तिम सन्देश (ब्रह्मचारी वैराग्यचैतन्य) ७३
१३. साधक-जीवन कैसा हो? (२) (स्वामी सत्यरूपानन्द) ७६
१४. स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (१२) (स्वामी विदेहात्मानन्द) ७८
१५. मूल्य-शिक्षा: वर्तमान की आवश्यकता (डॉ. पंकज लता) ८०

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

१६. लघुकथा - अभिमान क्यों? ८२
१७. विवेक-चूडामणि (श्री शंकराचार्य) ८२
१८. बच्चों का आंगन ८३
१९. कविता : सूरज आया, पढ़ाई (डॉ. श्रीप्रसाद जी) ८३
२०. युवकों की जिज्ञासा और समाधान (स्वामी सत्यरूपानन्द) ८४
२१. हम धरती के लाल (कविता) (शील) ८४
२२. भारत की सांस्कृतिक यात्रा : रुद्र से शिव तक (डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा) ८५
२३. काव्य लहरी : अक्षर अनश्वर श्रीरामकृष्ण (से. रा. यात्री), श्रीरामकृष्ण (चन्द्रमोहन), द्वार तुम्हारे आऊँ (काशीप्रसाद खेरिया), अवतारवरिष्ठ श्रीरामकृष्ण (जयश्री नातू) ८९
२४. हर ! हर ! काशी विश्वनाथ (डॉ. सन्ध्या त्रिपाठी) ९०
२५. त्यज रागं परिव्रज (स्वामी आनन्दपुरी महाराज) ९२
२६. विवेकानन्द रथ का छत्तीसगढ़ प्रवास ९३
२७. पुस्तक समीक्षा : अभय ज्ञान-प्रबोध ९५
२८. समाचार और सूचनाएँ ९६

सम्पादक महोदय से मुझे भी कुछ कहना है

सम्पादक महोदय,

विवेक-ज्योति पत्रिका अति सस्ती व सत्यं शिवं सुन्दरं है। मैं लगभग ३८ वर्ष के सभी अंक पूरा पढ़ा हूँ। विवेकानन्दजी कहते थे – (१) शिक्षा एक जादू भरा शब्द है, जिससे राष्ट्र की सब समस्याएँ हल हो सकती हैं। (२) नागरिकों में संस्कार डालने की प्रक्रिया में नारियों (माताओं) की मुख्य भूमिका होती है। सीता, सावित्री, गार्गी, लक्ष्मी, मैत्रेयी, मदालसा उनका आदर्श हों। अत: शिक्षा एवं नारी उत्थान, नारी सशक्तिकरण सम्बन्धी लेखों पर भी विशेष ध्यान केन्द्रित करने की कृपा करेंगे। धन्यवाद

ब्रह्मचारी श्रीराम अग्रवाल, बी.ई.केमिकल, डोंगरगढ़

– सम्माननीय अग्रवाल जी। आपका पत्र मिला। मैं विवेक-ज्योति के पाठकों का आजीवन आभारी रहूँगा। क्योंकि उनलोगों ने पत्रिका को समाजोपयोगी बनाने हेतु समय-समय पर हमें अपने महत्वपूर्ण सुझाव और सुधारने का अवसर भी दिया। सम्पादक की दृष्टि सब विषयों पर सदा नहीं जा पाती। इस स्थिति में उसके पाठकों का ही परम कर्त्तव्य होता है कि वे सदा अपने विचारों से सावधान और सहायता करते रहें। मैं आपके महत्त्वपूर्ण सुझावों पर ध्यान दूँगा और नारी शिक्षा आदि पर सामग्री भी देने का प्रयास करूँगा। – सं.

विवेक-ज्योति के सदस्य बनाएँ

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण और विश्ववन्द्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इससे गत एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हो रहा है। राम, कृष्ण, बुद्ध महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द, आदि कालजयी विभूतियों के जीवन और कार्य अल्पकालिक होते हुए भी शाश्वत प्रभावकारी एवं प्रेरक होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण करते हैं। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा नित्य उत्तरोतर व्यापक होती हुई, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्ववासियों में परस्पर सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सार्वजनीन उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से 'विवेक-ज्योति' पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था, जो १९९९ से मासिक होकर गत ५२ वर्षों से निरन्तर प्रज्ज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है। आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाएँ पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। – **व्यवस्थापक**

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द की यह भव्य मूर्ति 'रामकृष्ण मिशन, स्वामी विवेकानन्द-पैतृक भवन और सांस्कृतिक केन्द्र', ३ गौर मोहन मुखर्जी गली, कोलकाता की है। यह मूर्ति आश्रम के सामने अवस्थित है, मानो सभी लोगों को स्वामीजी अपने दिव्य सन्देश – 'उठो, जागो और लक्ष्यप्राप्ति तक रुको मत' की स्मृति दिलाकर सबमें नवशक्ति का संचार कर रहे हों !

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्यों की सूची

१५४१. श्री वाचनालय, वार्ड.९,कल्लु चौक, सिवनी मालवा (म.प्र.)
१५४२. लाईब्रेरियन, तुलसी पुस्कालय-वचनालय, कोटा (राज.)
१५४३. श्री राजेन्द्र प्रसाद त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य, बिलासपुर (छ.ग.)
१५४४. श्री बी. आर. अग्रवाल, चौबे कॉलोनी ,रायपुर (छ.ग.)
१५४५. श्री अरूण कुमार अस्थाना, दारागंज, इलाहबाद (उ.प्र.)
१५४६. श्रीमती रेखा दानी, दानी भवन, केलाबाड़ी, दुर्ग (छ.ग.)
१५४७. श्री गौरव शर्मा, वार्ड. २, भदेरा चौकी, बालाघाट (म.प्र.)
१५४८. श्री हरिकृष्ण नायक, सराईपाली, जि. महासमुन्द (छ.ग.)
१५४९. श्री शिवजी गुप्ता मेडिकल एजेन्सी, संतकबीर नगर (उ.प्र.)
१५५०. श्री दिनेश सुरेका, यशवंत निवास रोड, इन्दौर (म.प्र.)
१५५१. श्री चंद्रकांत महाराज, ननदेरिया, दभोई, बड़ौदा (गुज.)
१५५२. श्री शशीकांत चौबे, ग्रा.पो. ढाना, जि. सागर (म.प्र.)
१५५३. श्री एच. करियमा, 'नीलांचल' कुवेम्पु नगर,तुमकुर (कर्ना.)
१५५४. श्री सत्यम प्रकाश मित्तल, नागल चौधरी, महेन्द्रगढ़ (हर)
१५५५. स्वामी तत्सेवानन्द, रा.कृ.आ. मोराबाद, राची (झारखण्ड)
१५५६. श्रीमती मीरा घई, सेक्ट.-९, पॉ.२, द्वारका, नई दिल्ली
१५५७. श्री गोविन्द शरण सेठी, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर (राज.)
१५५८. श्री गिरिराज कुमार टेमरी, ११८, हरीमार्ग, जयपुर (राज.)
१५५९. डॉ. एस.के. ओंकार, विवेकानन्द स्टडी, अमरावती (महा.)
१५६०. श्री बी. एल. सोनेकर, पं. रविशंकर यूनिवसिटी, रायपुर
१५६१. आनन्द टीम्बर ट्रेडर्स, भनपुरी, रायपुर (छ.ग.)
१५६२. श्री रामरतन दास, श्रीवृन्दावन धाम, जि.- मथुरा (उ.प्र.)
१५६३. श्री एस.सी. शर्मा, केनालरोड, किसनपुर, देहरादुन (उ.ख.)
१५६४. श्री जयन्ती लाल शामजी पोकर, थाने (प.) महाराष्ट्र
१५६५. श्रीमती अंजली चन्द्रा, ८२९, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)
१५६६. श्री डी.एल. चन्द्रा, ११२-नर्मदा नगर, बिलासपुर (छ.ग.)
१५६७. डॉ. सी. पी. खरे, जीवन विहार तेलीबांधा,रायपुर (छ.ग.)
१५६८. श्री कमलेश कुमार दीक्षित, 'अधिवक्ता', कटनी (म.प्र.)
१५६९. कु. कविता दास, १५२, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)
१५७०. श्री विकास अग्रवाल, विकास मेडि.स्टोर्स, गोन्दिया (महा.)
१५७१. श्री ओंकारेश्वर सिंह, ४९३,बंगला पारा, रायगढ़ (छ.ग.)
१५७२. श्री बी.के. मोदी, ७०३, कान्दिवली (ई.) मुम्बई (महा.)
१५७३. श्री राजु डेहारिया, लोटस-६५५,जातखेड़ी, भोपाल (म.प्र.)
१५७४. श्री दीपक भंडारी, एस-२, अवधपुरी, भोपाल (म.प्र.)
१५७५. श्री अंकुर कश्यप, ९९,सृष्टि कॉलोनी, राजनांदगाँव (छ.ग.)
१५७६. श्री अंशु सिंगरे,डी-२,७०२,राहुलपार्क, वर्जे, पुणे (महा.)
१५७७. श्री अद्वैत निर्गुण, बाखरपुर, जि.भागलपुर (बिहार)
१५७८. धनंजय कुमार निराला, महामदा-मोतीपुर, जि.-मुजफ्फरपुर
१५७९. श्री राम कुमार, क्वा. न. १९, मधुबन, करनाल (हरयाणा)
१५८०. श्री संजीव एच. पारिख, न्यू पलासिया, इन्दौर (म.प्र.)
१५८१. दैनिक प्रार्थना सभा, मथुरा रोड, वृंदावन, मथुरा (उ.प्र.)
१५८२. श्री सुरेश पी. ओझा, इचलकरंजी, जिला-कोल्हापुर (महा.)
१५८३. श्रीमती वीना पाठक, बरवा नगर,विभुतिपुर, बैंगलोर(कर्ना.)
१५८४. श्री अरुण शर्मा,१८६, बंगुर एवेन्यु, कोलकाता (पं.ब.)
१५८५. श्री पंडित दिनेश पाठक, कथावाचक, शमीली (उ.प्र.)
१५८६. श्री सुब्रत पाल, पाल चौक, रेलटोली, गोन्दिया (महा.)
१५८७. श्री विश्वरंजन पंडा, एट+पो.-टेमेरा, जि.-कालाहांडी (उड़ीसा)
१५८८. श्री एस.के. चौबे, ७-बी, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)
१५८९. श्री पी.के. सरैया, २९, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
१५९०. श्री एस.के. पचनन्दा, डी.बी. सिटी, ग्वालियर (म.प्र.)
१५९१. श्री एम.सी. रेजा, बिजलीनगर गोविन्दपुरा भोपाल (म.प्र.)
१५९२. श्री ए.के. पचौरी,शिवानीहोम मदन महल, जबलपुर (म.प्र.)
१५९३. श्री राजेश श्रीवास्तव,१११ वैशाली नगर, भोपाल (म.प्र.)
१५९४. श्रीमती मीनाक्षी सहगल, हॉलीफैमली स्कूल,भोपाल (म.प्र.)
१५९५. श्री प्रवीण गुप्ता, बी-१८, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)
१५९६. स्वामी प्रार्थनानन्द, रामकृष्ण मिशन आश्रम, शिलांग
१५९७. श्री ए.आर. साय, फारेस्टकॉलोनी कोनी, बिलासपुर (छ.ग.)
१५९८. श्री रामजीवन यादव, ८१९, गुढ़ीयारी रायपुर (छ.ग.)
१५९९. डॉ. आर.एस. उपाध्याय, बी.२२, मोतीकुंज, मथुरा (उ.प्र.)
१६००. श्रीमती वसुन्धरा त्रिपाठी, आशानगर, मुम्बई (महा.)

आवश्यक सूचना

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष शुक्रवार, २० फरवरी, २०१५ को युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में मनाया जायेगा। प्रातःकाल से मंगल आरती, विशेष पूजा, भजन और होम होंगे। श्रीरामकृष्ण देव के दिव्य जीवन-चरित पर स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज के व्याख्यान भी मन्दिर में होंगे। १२ बजे विशेष भोग के बाद सभी भक्तों को प्रसाद वितरित किया जायेगा। सन्ध्या आरती के बाद मन्दिर में भजन होगा।

शिव और श्रीरामकृष्ण के भजन

ताथैया ताथैया नाचे भोला

स्वामी विवेकानन्द

(कर्णाटी-एकताल)

ताथैया ताथैया नाचे भोला, बम बब बाजे गाल।
डिमि डिमि डिमि डमरू बाजे, दुलिछे कपाल माल।।
गरजे गंगा जटा माझे, उगरे अनल त्रिशुल राजे,
धक धक धक मौलिबन्ध, जले शशांक भाल।।

दरशन दो भोलेनाथ मुझे एकबार

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

(यमन कल्याण-दादरा)

दरशन दो भोलेनाथ मुझे एकबार।
मेरे सब दोष-दुख का करो संहार।।१।।
सोहत है शशिभाल, भृकुटि भयप्रद कराल।
तेरे गले में करे नाग फुफुकार।।२।।
भस्म अंग, गोरी-संग, मस्त रहत पिये भंग।
तीसरे नयन से किया काम का संहार।।३।।
कर में लेकर त्रिशूल, नाशो मम दुख मूल।
गंग-धार सी करो शुद्ध मन-विचार।।४।।
हे शंकर त्रिपुरारी, भोले शिव भंडारी।
दरशन देकर करो, मेरा उद्धार।।५।।

जय शंकर त्रिपुरारी

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

(काफी-तीन ताल)

जय शंकर त्रिपुरारी, शरणागत भय हारी।।
विश्वनाथ काशीपति शंकर जय-जय त्रिशुलधारी।
कालेश्वर हे भैरव स्वामी, जन के संकटहारी।।
महादेव नागेश्वर शम्भु पशुपति पिनाकधारी।
धुर्जटी त्र्यम्बक महादेव शिव, साधक-हृदयविहारी।।
आदिदेव जय त्रिलोकस्वामी, हे भक्तन हितकारी।
त्रिलोक-गुरु हे उमा-महेश्वर, राम इष्ट तुम्हारी।।
सुर-असुर चर-अचर-अधिपति, नित कैलासविहारी।
हे मृत्युंजय कर करुणा प्रभु, आयो शरण तुम्हारी।।

श्रीरामकृष्णदेव की आरती और भजन

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

(राग - जय जगदीश हरे, ताल - कहरवा)

ॐ रामकृष्ण भगवन, जय चन्द्रमणि-नन्दन।
जय भक्तन सुखकारी, काटत भव-बन्धन।।
काम-क्रोध-मन नाशैं, लोभ-मोह विनशैं।
ज्ञान-भक्ति हिय विकसैं, अमृत रस बरसैं।।
यति-ज्ञानी-ब्रह्मचारी, भक्त करें वन्दन।
जन वांछित फल पावत, जो शरणत चरणन।।
तेज-पुंजमय काया चमके सम कंचन।
करुणामय तव दृष्टि,विमल हास्य वदन।।
प्रेममयी माँ सारदा, तेरे संग सोहैं।
सेवा की नित आज्ञा, त्यागी, भक्त जौहैं।।
दुखियों के दुख नाशत, कष्ट हरत जन के।
प्रेम आनन्द बढ़ावत, व्यथा हरत मन के।।
त्याग तपोमय जीवन, प्रेम-धार बरसें।
वचन-सुधा सुनने को सुर-नर-मुनि तरसें।।
हम हैं बालक स्वामी तेरी शरण आये।।
अपनी गोद उठा लो, हम शान्ति पायें।।
दीनबन्धु जगदीश्वर, पूर्ण ब्रह्म मेरे।
सच्चिदानन्द परमात्मा चरण पड़ा तेरे।।

रामकृष्ण पद आस

(पद, ताल-कहरवा)

कर मन रामकृष्ण पद आस।
दयासिन्धु भगवान करेंगे, तेरा सब दुख नाश।।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह की चलती वहाँ न पाश।
जगतारक प्रभु परम कृपा कर काटेंगे भव-पाश।।
इस असार जग में नहीं भूलना सब कुछ है बकवास।
जा रे मन तू निश्छल होकर, बन प्रभु का ही दास।।
प्रेम-आनन्द प्रदान करेंगे, हर लेंगे दुख-राश।
डरत-फिरत माया उनसे तो, देत न यम फिर त्रास।।

श्रीरामकृष्णवन्दना

स्वामी गीतेशानन्द

जड़वादजस्यातिभीकरस्य संशयसुरारेर्विनाशनाय
स्वमायया धृतनृविग्रहंवै तमादिदेवं भजे रामकृष्णम् ।।

जड़वाद (भौतिकवाद) से उत्पन्न अति भयानक संशय रूपी राक्षस के विनाश के लिए जिन्होंने स्वमाया से मनुष्य शरीर धारण किया है, उन आदिदेव श्री रामकृष्ण का मैं भजन करता हूँ।

कलिकालिमाराञ्जिताचिताविहं य:पर्यशुध्यत तपोभिरूग्रै:
दिव्यायनप्रेरकं तं पुनश्च ध्वान्तापहं तं भजे रामकृष्णम् ।।

कलियुग की कालिमा से लिप्त चित्तों को जिन्होंने अपनी उग्र तपस्या से परिशुद्ध कर दिव्य पथ पर प्रेरित किया, उन अज्ञान रूपी अन्धकार के नाशक श्रीरामकृष्ण का मैं भजन करता हूँ।

संसारजलधेः कामादिमकरा:सन्तरितुकामान् सम्पीडयन्ति
तेषांगतिस्ते खलु नामतरणी भवनाविकं तं भजे रामकृष्णम् ।।

संसार-समुद्र के काम-क्रोध आदि जलचर जब साधकों को पीड़ा पहुँचाते हैं, तब उनकी एकमात्र गति आपकी नाम रूपी नाव ही होती है। ऐसे भव-नाविक श्रीरामकृष्ण का मैं भजन करता हूँ।

सत्यस्वरूपश्चिदानन्दमूर्ति:मायाधिकरणो मायावियुक्त:
भङ्गस्थितिसृष्टिनिमित्तभूत:तं तत्त्वमेकं भजे रामकृष्णम् ।

जो सत्यस्वरूप हैं और चिदाननन्द मूर्ति हैं, माया का कारण होते हुए भी जो सर्वथा माया से अलिप्त हैं, जो सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण हैं, उस एकमात्र तत्त्व श्री रामकृष्ण का मैं भजन करता हूँ।

पुरखों की थाती

परोपकार-शून्यस्य धिङ्मनुष्यस्य जीवितम् ।
यावन्तः पशवस्तेषां चर्माप्युपकरिष्यति ।।४३५।।

– उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है, जो परोपकार से रहित है, उसकी अपेक्षा तो पशु ही अच्छे हैं, जिनके चमड़े तक परोपकार में लगते हैं ।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदः तेषां सम्पदस्तु पदे-पदे ।।४३६।।

– जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार का उदय होता है, उनकी सारी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और पग-पग पर सम्पत्तियों का आगमन होता है।

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ।।४३७।।

– दूसरों को उपदेश देने में विद्वत्ता दिखाना सबके लिए सरल है; परन्तु बिरले ही ऐसे महात्मा हैं, जो स्वयं अपने जीवन में धर्म का पालन करते हैं।

पलालमिव सत्यार्थी त्यजेत् शास्त्राणि अशेषत:।।४३८

– जैसे अनाज को लेकर पुआल को त्याग दिया जाता है, वैसै ही सत्य की खोज करनेवाले को सारे शास्त्रों का त्याग कर देना चाहिये।

पापं तिष्ठति तिष्ठन्तं धावन्तम्-अनुधावति ।
करोति कुर्वतः कर्मच्छायेवानुविधीयते ।।४३९।।

– मनुष्य के पाप उसकी छाया के समान – बैठने पर बैठ जाते हैं, दौड़ने पर पीछे-पीछे दौड़ते हैं और कर्म करने पर कर्म में लग जाते हैं।

क्या हम ईश्वर की पुकार सुन रहे हैं ?

भगवान श्रीरामकृष्णदेव दक्षिणेश्वर में कोठी की छत पर चढ़कर बड़ी व्याकुलता से पुकार रहे हैं, "अरे तुम लोग कहाँ हो? आओ रे ! आओ रे ! तुम लोगों को देखे बिना मुझसे रहा नहीं जाता।" ईश्वर बड़ी आत्मीयता से, बड़े ही सन्निकट सान्निध्य सम्बन्धवशात् व्यग्र होकर व्याकुलतापूर्वक अपनी सन्तानों को शाश्वत सुख की विरासत देने के लिये पुकार रहे हैं। लेकिन क्या हम उनकी पुकार सुन रहे हैं? वास्तव में वह जीव बड़ा ही भाग्यशाली है, जो अपने प्रेमास्पद श्रद्धास्पद परमात्मा की वाणी को सुनकर उनके पास दौड़कर उनके चरणों में चला जाता है और कहता है – हे प्रभो ! हे मेरे शाश्वत पिता ! मैं आपकी मायावश भ्रमित और आसक्त होकर आपको भूलकर आपसे दूर हो गया था। लेकिन आपने अपनी परम कृपा से दयापूर्वक सन्तान-वात्सल्यता से मुझे पुनः पुकारा है। अब मैं आपकी शरण में आ गया हूँ। अब आपके पावन चरण-कमलों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं जाऊँगा। हे प्रभो ! मुझे अपने चरणों में आश्रय दीजिए। मैं आपका तनय आपके शरणागत हूँ। पुत्र की निश्छल दीनार्त प्रार्थना से परामात्मा द्रवित होकर उसके समस्त अपराधों को क्षमा कर अपनी शरण में ले लेते हैं, अपने सनातन कृपांक में आश्रय दे देते हैं। ऐसे परम करुणामय हैं भगवान !

दूसरा वह जीव दुर्भाग्यशाली है, जो ऐसे दीनदयालु कृपावत्सल भगवान की पुकार सुनकर भी उनके पास नहीं जाता है। अपितु इसके विपरीत अहर्निश अगाध भव-व्याधि व्यथा से पीड़ित रहकर कराहता रहता है। दैव, ईश्वर, परिवार, समाज और अन्यान्य लोगों पर अपना दोष मढ़ता रहता है, लेकिन ईश्वर प्रदत्त विवेक द्वारा इन भव-रोगों से बचकर उनके पास जाकर शरणागत नहीं होता। यहाँ तक कि सारा जीवन पंचेन्द्रिय परिवार (रूपरसादि) की तृप्ति और षड्शत्रुओं के आघातों से संघर्ष कर अन्त में काल कवलित हो जाता है। क्या यही मानवीय जीवन है ! क्या इस अमूल्य सुरवन्दित बहुपुण्यप्राप्त इस मानव-जीवन का मात्र इतना ही उद्देश्य है? क्या अनादि काल से परमात्मा, ऋषि-मुनियों के द्वारा सतत सावधान करने पर भी मानव की ऐसी दुर्दशा होनी चाहिये? हम इस दुर्लभ नर-जन्म को पाकर भी शाश्वत सुख के धाम परमात्मा को प्राप्त कर इस भवार्वण से पार होकर, नित्यमुक्ति के संगीत का गुंजार कर धन्य नहीं हो सके, क्या यह हमारा दुर्भाग्य नहीं है?

किन्तु ऐसा क्यों होता है? हम क्यों नहीं उस दिव्य वाणी को सुन रहे हैं, जो हमेशा हमारा आह्वान कर रही है? वह वाणी जो गगन-मण्डल के गुरुत्वाकर्षण-सीमा को भेदकर हमारे धरातल पर आकर हमारे समक्ष बारम्बार, हमारे आगे-पीछे, दायें-बायें, नीचे-ऊपर सर्वत्र विभिन्न रूपों में हमें वात्सल्य भाव से पुकार कह रही है – मेरे प्रिय वत्स आओ ! मैं तुम्हारी दीर्घकाल से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम सांसारिक व्यथाग्नि से तप्त होकर अति दुख प्राप्त कर रहे हो, जो एक पिता को देखना असह्य है। आओ, हमारी गोद में शाश्वत सुख-शान्ति को प्राप्त करो !

जीवों की इस दुर्दैन्य दशा को देखकर ही तो कभी रामानुजाचार्य ने अपने श्रद्धेय गुरुजी की आज्ञा का उल्लंघन करके भी श्रीरंगम मन्दिर के गोपुरम के शिखर पर चढ़कर सबको बुला-बुलाकर उस महामन्त्र को सुना दिया, जिसे प्राप्त कर मानव परम शान्ति एवं मोक्ष को प्राप्त करता है, इस संसार के भव-चक्र से सदा हेतु मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक वर्णन भगवान श्रीरामकृष्ण के शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द जी महाराज ने अपनी पुस्तक श्रीरामानुज चरित (पृ-१७८) में किया है –

"श्री रामानुज गुरु का उपदेश सुनकर परम आनन्दित हुये।...मन्त्रशक्ति से दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। ...श्री गुरु से विदा लेकर वे श्रीरंगम मन्दिर की ओर चले। सहसा उनके मन में एक विचित्र भाव का उदय हुआ। वे गोष्ठीपुर में स्थित विष्णु मन्दिर के महाद्वार की ओर चले और मार्ग में जो भी दिखा, उसे यह कहकर आमन्त्रित करने लगे, 'मन्दिर के पास आओ, मैं तुम्हें एक अमूल्य रत्न प्रदान

करूँगा।'' ... उसके बाद वे मन्दिर के गोपुरम् (मुख्य द्वार) के शिखर पर चढ़कर उच्च स्वर में बोले – ''प्राण से प्रिय भाइयो और बहनो ! यदि तुम लोग इसी क्षण संसार के सभी दुख-कष्टों से चिरकाल के लिये मुक्ति पाना चाहते हो, तो मैं तुमलोगों के लिए यह मन्त्र संग्रह करके लाया हूँ। तुम लोग मेरे साथ तीन बार इसका उच्चारण करके धन्य हो जाओ।'' श्रीरामानुज के आह्वान पर उपस्थित सभी लोग उनसे मन्त्र बोलने का आग्रह करते हैं और उनके साथ मन्त्रोच्चारण कर कृतार्थ हो जाते हैं। एक दिव्य वातावरण बन जाता है।

क्या हम उनके आह्वान में अनुस्यूत भावों की प्रगाढ़ता, उनकी हार्दिक व्याकुलता और औदार्य का थोड़ा-सा भी अनुभव कर उस महामन्त्र के लक्ष्य परमात्मा की ओर अग्रसर हो रहे हैं? क्या हमें उनकी उस पीड़ा की अनुभूति हो रही है, जिन्होंने हमारी मुक्ति के लिये गुरु-आज्ञा जैसे गुरुतर अपराध को स्वीकार किया? जगत के मोहग्रस्त प्राणियों की भव-व्यथा एवं ईश्वर-वियोगजनित दुख से उबारने एवं शाश्वत सुख प्रदान करने हेतु ही उन्होंने स्वयं नरक जाना सहर्ष स्वीकार किया एवं गुरुप्रदत्त गोपनीय महामन्त्र को सबको पुकारकर सुना दिया। कैसी जीवों पर अपार करुणा थी उनकी ! सबको मुक्त एवं सुखी करने की कैसी व्याकुलता थी ! लेकिन क्या हम इन महापुरुषों की हमारे प्रति दयालुता को हृदय के अन्तस्तल में अनुभव कर रहे हैं? क्या हम उनकी उस आवाज को सुन रहे हैं, जो अनवरत हमें पुकार रही है?

महाप्रभु चैतन्य देव ने भी नदिया में सबका आह्वान किया था और भगवन्नाम और 'हरि बोल' की ध्वनि को सबके पास पहुँचाया था।

जन्म-मरण चक्र से पीड़ित मानव की दुर्दशा को देखकर ही विह्वल होकर भगवान श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर में बाबुओंकी कोठी पर चढ़कर पुकार रहे हैं – ''अरे तुमलोग कहाँ हो आओ ...।'' वर्षों बाद उनकी भेंट उनके त्यागी सन्तानों से होती है और वे अपनी तत्कालीन व्याकुलता को बड़े मार्मिक ढंग से बताया करते थे। उन्होंने यह भी कहा था, मैं माँ से कहता कि माँ तुम तो कहती थी कि तुम्हारे पास बहुत से तेरे अन्तरंग भक्त आयेंगे। लेकिन अब तक वे लोग कहाँ हैं? माँ, अब मुझसे रहा नहीं जाता। जल्दी उनलोगों को बुला दो आदि। बाद में वे भक्तों के घर-घर जाकर उन्हें भगवान का नाम सुनाते हैं और ईश्वर-पथ पर अग्रसर करते हैं।

स्नेह सुरसरि सन्तान वत्सला ममतामयी श्रीमाँ सारदा ने अभय देते हुए कहा - 'मैं तुम्हारी माँ हूँ, ... तुम जब चाहो मेरे पास आ सकते हो। हमेशा याद रखना कि तुम्हारी एक माँ है। तुम कभी भी मेरे पास आ सकते हो।' श्रीमाँ सारदा का कृपा-द्वार हमेशा के लिये उन्मुक्त हैं। उनके समकालीन लोगों ने इसका सतत अनुभव किया था। अभी भी माँ अपनी अकारण सन्तान-वात्सल्यता से, अपनी कृपा-कटाक्ष से अपनी सन्तानों पर स्नेह वर्षण कर रही हैं और हमें दुखमुक्त एवं सुख प्रदान करने हेतु पुकार रही हैं। क्या हम उनकी इस पुकार को सुन रहे हैं?

इस देश की मिट्टी, यहाँ का कण-कण, यहाँ की वायु अवतारों, ऋषियों और सन्तों की वाणी से ओत-प्रोत है, यहाँ तक इन भवकर्णधारों की वाणी गगनमण्डल में निनादित हो रही है। सभी हमें इस दुष्कर भवसागर से पार करने का आह्वान कर रहे हैं। क्या हम उनकी वाणी सुनकर जाग्रत हो रहे है? क्या हम दयासागर भगवान श्रीकृष्ण की उस स्नेहमयी वाणी को सुन रहे हैं –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

आओ वत्स, तुम सब कुछ छोड़कर मेरे पास चले आओ ! मैं तेरे सभी पापों का नाश कर दूँगा। तुम्हें सभी बन्धनों से मुक्त कर दूँगा। तेरे सारे कष्टों का हरण कर तुम्हें परम शान्ति प्रदान करूँगा।

क्या हमें यह बोध हो रहा है कि जैसे बाहर गये हुए छोटे बच्चे की एक माँ जिस व्याकुलता के साथ प्रतीक्षा करती है, ठीक वैसे ही परमात्मा हमारे लिये बड़े वात्सल्यपूर्वक ममतापूर्वक व्यग्रता से हमारी लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं? जिस प्रकार शाम को बच्चे के वापस आने पर माँ प्रसन्न होकर उसे अपनी गोद में उठा लेती है, ठीक उसी प्रकार जब जीव जन्म-जन्मान्तरों से भटककर भी उनकी शरण में चला जाता है, तो भगवान प्रसन्न होकर उसे अपनी गोद में उठा लेते हैं। वह प्राणी इस भव-वन्धन से मुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

अतः हे प्राणियो ! अब ईश्वर की आवाज सुनने का समय आ गया। अब प्रमाद को छोड़कर उठिये, घोर निद्रा और तमान्धता से जागिये और काल-कवलित होने के पहले ही महाकाल परमात्मा के चरणों में आश्रय लेकर धन्य हो जाइये ! ○○○

जीवन का अन्तिम पर्व

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों, व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में कहीं-कहीं उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का संकलन अँग्रेजी में 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक से और बँगला में 'आमि विवेकानन्द बोल्छी' नामक दो ग्रन्थ प्रकाशित हुये। दोनों ग्रन्थों के सहयोग एवं कुछ विशेष सामग्री के साथ वर्तमान संकलन 'विवेक-ज्योति' के भूतपूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

बेलूड़ मठ, ८ नवम्बर, १९०१ : पूर्वी बंगाल का भ्रमण करके लौटने के बाद से ही मैं निरन्तर बीमार जैसा हूँ। इसके अलावा दृष्टि घट जाने के कारण मेरी हालत पहले से भी खराब है।[२८]

वाराणसी, १० फरवरी, १९०२ : श्री ओकाकुरा अपने अल्पकालीन दौरे पर निकल पड़े हैं। ... बनारस का एक अत्यन्त सुशिक्षित धनाढ्य युवक, जिनके पिता से हमारी पुरानी मित्रता थी, कल इस नगर में लौट आये हैं। उनकी कला में विशेष रुचि है और नष्टप्राय भारतीय कला के पुनरुत्थान के सदुद्देश्य से बहुत-सा धन व्यय कर रहे हैं। वे श्री ओकाकुरा के जाने के बाद ही मुझसे मिलने आये। भारतीय कला का जो भी अवशेष बच रहा है, श्री ओकाकुरा को दर्शन कराने के लिए ये ही उपयुक्त व्यक्ति हैं और मेरा विश्वास है, इनके सुझावों से श्री ओकाकुरा लाभान्वित होंगे। श्री ओकाकुरा ने अभी-अभी यहाँ से टेराकोटा की एक सुराही प्राप्त की है, जिसे नौकर उपयोग कर रहे थे। उसके गठन और उस पर की मुद्रांकित डिजाइन देखकर वे मुग्ध रह गये। किन्तु चूँकि वह सुराही मिट्टी की थी और यात्रा में उसके टूट जाने का भय था, अत: उन्होंने मुझसे उसे पीतल में ढलवा देने को कहा। मैं तो किंकर्तव्य-विमूढ़-सा था कि क्या करूँ ! तभी कुछ घण्टे बाद ये युवक आये और उन्होंने न केवल इस कार्य का जिम्मा ले लिया, वरन् मुझे ऐसे सैकड़ों मुद्रांकित टेराकोटा भी दिखाये, जो श्री ओकाकुरा वाले से असंख्य गुना श्रेष्ठ हैं।

उन्होंने उस अद्भुत प्राचीन शैली के पुराने चित्रों को सिखाने का भी प्रस्ताव रखा। वाराणसी में केवल एक ही परिवार ऐसा बचा है, जो अब भी उस प्राचीन शैली में चित्र बना सकता है। उनमें से एक ने तो मटर के एक दाने पर शिकार का पूरा दृश्य ही चित्रित कर दिया है, जो बारीकी और क्रियांकन में पूर्णत: निर्दोष है। ...

मेरा कार्यक्रम कोई निश्चित नहीं है, मैं बहुत शीघ्र ही यहाँ से अन्यत्र जा सकता हूँ।[२९]

वाराणसी, १८ फरवरी, १९०२ : मैं आजन्म यही देखता रहा हूँ कि इस संसार-रूप नरक-कुण्ड में यदि एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ा-सा आनन्द तथा शान्ति प्रदान की जा सके, तो उतना ही सत्य है, बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।[३०]

वाराणसी, ४ मार्च, १९०२ : इस समय रात हो चुकी है और मुझमें बैठकर लिखने की शक्ति नहीं है, तथापि तुम्हें यह पत्र लिखना मुझे अपना कर्तव्य प्रतीत हो रहा है। मुझे आशंका है कि कहीं यह मेरा अन्तिम पत्र न हो और दूसरों को कठिनाई में न डाल दे।

मेरी हालत बिल्कुल भी गम्भीर नहीं है, परन्तु यह किसी भी क्षण वैसी हो सकती है। मैं नहीं जानता कि करीब-करीब हमेशा बने रहनेवाले हल्के बुखार का क्या मतलब है और साँस लेने में तकलीफ तो है ही। ...

मेरे यहाँ आने के कुछ सप्ताह पूर्व रामकृष्णानन्द आये थे; और पहला काम उन्होंने यह किया कि वे चार सौ रुपये मेरे चरणों में रख दिये, जो उन्होंने अनेक वर्षों के कठोर परिश्रम के द्वारा एकत्र किये थे !! मेरे जीवन में ऐसी घटना पहली बार हुई है और मैं बड़ी कठिनाई से अपने आँसू रोक पाता हूँ। ओ माँ ! माँ ! कृतज्ञता, प्रेम और पुरुषार्थ अभी भी लुप्त नहीं हुए हैं !! प्रिय वत्स, एक ही बीज सारे संसार को हरा-भरा करने के लिये पर्याप्त है।[३१]

बेलूड़ मठ, २१ अप्रैल, १९०२ : ऐसा लगता है मानो मेरे जापान जाने की योजना निष्फल हो गयी है। ...

मैं सकुशल हूँ, ऐसा ही लोग कहते हैं, पर अभी बहुत दुर्बल हूँ और पानी पीना मना है। खैर, रासायनिक विश्लेषण के अनुसार तो काफी सुधार दीख रहा है। पैरों की सूजन तथा अन्य सब शिकायतें दूर हो गयी हैं।[३२]

बेलूड़ मठ, १५ मई, १९०२ : मैं बहुत-कुछ स्वस्थ

हूँ, किन्तु जितनी मुझे आशा थी, उस दृष्टि से यह नहीं के बराबर है। एकान्त में रहने की मुझमें प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई है, मैं सदा के लिए विश्राम लेना चाहता हूँ, मेरे लिए अब कोई कार्य शेष नहीं रहा। यदि सम्भव हुआ, तो मैं पुन: अपनी पुरानी भिक्षावृत्ति प्रारम्भ कर दूँगा।[३३]

बेलूड़ मठ, २१ जून, १९०२ : जैसे भी हों, मेरे दिन बीत रहे हैं और मैं काफी सबल अनुभव कर रहा हूँ। जहाँ तक भोजन का प्रश्न है, लगता है कि मुझे चिकित्सकों की 'जो इच्छा हो, खाने की सलाह' को न मानते हुए स्वयं को संयमित रखना होगा। वैसे मैं दवा खा रहा हूँ। लड़कों से पूछना कि इस समय क्या वहाँ (मायावती में) आँवले के फल मिलते हैं? मैदानी अंचलों में वे अभी उपलब्ध नहीं हैं। कच्चा खाने पर ये बड़े खट्टे लगते हैं, परन्तु मुरब्बा बनाने पर स्वादिष्ट हो जाते हैं। **फर्मेंटेशन** के लिये मुझे यही चीज सबसे उत्तम मिली है।[३४]

बेलूड़ मठ, १९०२ : यह शरीर अब कर्म के उपयुक्त नहीं रह गया है। इसे छोड़कर मुझे नया शरीर धारण करके फिर आना होगा। अब भी अनेक कार्य बाकी रह गये हैं।[३५]

मैं मुक्ति नहीं चाहता। जब तक सभी जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक मुझे बारम्बार आना होगा।[३६]

मैं कदापि चालीस पूरा नहीं करूँगा।... मैंने अपना सन्देश दे दिया है और अब मुझे जाना ही होगा। ... बड़े वृक्ष की छाया छोटे वृक्षों को बढ़ने नहीं देती; उनके लिए जगह बनाने हेतु मुझे जाना ही होगा।[३७]

मृत्यु मेरे शय्या के पास आ पहुँची है। काम-काज और खेल बहुत हो चुके। मेरा क्या अवदान रहा है, संसार इस बात को समझे। इसे समझने में काफी लम्बा समय लग जायेगा।[३८]

बेलूड़ मठ, २ जुलाई, १९०२ : मैं मृत्यु के लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ। मुझमें एक महा-तपस्या तथा ध्यान का भाव जागा है और मैं मृत्यु के लिए तैयारी कर रहा हूँ।[३९]

(क्रमश:)

२८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३८६; **२९.** वही, खण्ड ८, पृ. ३८९-९०; **३०.** वही, खण्ड ८, पृ. ३९१; **३१.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १८०-८१; **३२.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३९३; **३३.** वही, खण्ड ८, पृ. ३९४; **३४.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १८७-८८; **३५.** Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 2004, पृ. ३५४; **३६.** वही, पृ. ३५४; **३७.** वही, पृ. २४२; **३८.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४०२; **३९.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. ३२८-२९;

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

१२२. दया धरम में जो मजा, सो अधरम में नाहीं

एक बार वाराणसी का राजा ब्रह्मदत्त वेष बदलकर यह जानने के लिये शहर की सैर को निकला कि क्या उसकी प्रजा उसके शासन में सचमुच सुखी है। वह जिससे भी प्रश्न करता, वह यही जवाब देता कि वह राजा के सुशासन से खुश है। अचानक उसे एक छोटी झोपड़ी में एक साधु लेटा हुआ दिखाई दिया। राजा उसके पास जाकर उसके पैर दबाने लगा। साधु ने उसे रोककर एक फल को काटकर एक थाली में फल के टुकड़े रख दिये। राजा ने एक टुकड़ा खाया, तो उसे फल बहुत मीठा लगा। उसने साधु से पूछा, 'यह फल इतना मीठा कैसे है?' साधु ने उत्तर दिया, 'राजा यदि नेक, न्यायी और प्रजावत्सल हो, तो हर चीज का स्वाद मीठा ही मिलेगा।' राजा को बात कुछ अटपटी लगी। उसने कहा, "राजा के शासन का प्रकृति से क्या सम्बन्ध है ? प्रकृति पर तो उसका अधिकार नहीं होता।" साधु ने कहा, "राजा धर्मशील हो तो प्रकृति प्रसन्न रहती है। इस कारण फल अत्यधिक स्वादिष्ट, शाक-सब्जियाँ बड़ी ही पौष्टिक तथा फूल भरपूर सुगन्धयुक्त पैदा होते हैं।'

राजा लौट तो गया, किन्तु साधु की वाणी पर गम्भीरता से विचार करने लगा। उसने निश्चय किया कि इस बात की जाँच करनी ही चाहिये कि क्या कुशासन से प्रकृति असन्तुष्ट होती है ? उसने दूसरे ही दिन से प्रजा पर अत्याचार करना शुरु किया। प्रजा पर अनेक प्रकार के कर लाद दिए और कर न देने वालों को दण्ड देना शुरू किया। इससे राज्य में हाहाकार मच गया। लोग त्रस्त हो राजा को कोसने लगे। एक दिन राजा पुन: साधु की कुटिया में जा पहुँचा और साधु के पैर दबाने लगा। साधु ने उसे रोका और खाने के लिये एक फल दिया। राजा ने ज्यों ही उसे खाया, वह कड़ुआ लगा। उसने पूछा, "यह फल इतना कड़ुआ कैसे है?" साधु ने कहा, 'अधर्मी राजा के कुशासन में मीठा फल कैसे पैदा हो सकता है? राजा जान गया कि राजा के गुण-दोषों का प्रकृति पर असर पड़ता है।

सारी सृष्टि का रचयिता परमेश्वर है। प्रकृति और प्राणी उसकी रचना हैं और वे एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। राजा परमात्मा का दूत होता है, इसलिये उसे धर्म-परायण होना आवश्यक है। धर्मपरायण होने का अर्थ है – ईश्वरीय सत्ता में विश्वास कर अपने विवेक और औचित्य के आधार पर प्रजा को न्याय व सुख देना। सत्य, सेवा, सहिष्णुता ये सुख-शान्ति की आधारशिला हैं। द्वेष, घृणा, हिंसा, अन्याय ये राजधर्म के प्रतिकूल हैं। राजा को इनसे बचते हुए सदैव प्रजा की खुशहाली का ही विचार करना चाहिए। OOO

धर्म-जीवन का रहस्य (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन 'विवेक-ज्योति' के भूतपूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

महाराज अब कीजिए सोई ।
सबकर धरम सहित हित होई ।। २९०/८
ग्यान निधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल ।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहिकाल।।२/२९१

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीसत्यरूपानन्द जी, अन्य समुपस्थित सन्तमण्डली, भक्तिमती देवियो और जिज्ञासु भक्त-श्रोतावृन्द, मैं आप सबके चरणों में नमन करता हूँ !

रामचरित-मानस में धर्म के सन्दर्भ में जब यह प्रश्न सामने आया कि धर्म में सर्वश्रेष्ठ कौन-सा है, तो दो पंक्तियाँ ऐसी हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न जान पड़ती हैं। एक पंक्ति में कहा गया – सत्य के समान कोई दूसरा धर्म है ही नहीं –

धरमु न दूसर सत्य समाना ।। २/९५/६

परन्तु दूसरी पंक्ति में कहा गया – दूसरों के उपकार से बड़ा कोई धर्म नहीं है –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।। ७/४१/१

एक ही ग्रन्थ में यदि एक स्थान पर सत्य को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया जाय और दूसरी पंक्ति में परहित को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया जाय, तो क्या इसमें विरोधाभास नहीं दिखता? वस्तुत: इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि सत्य सर्वश्रेष्ठ धर्म होते हुए भी, सत्य के साथ आशंका यह है कि व्यक्ति कहीं अपने अहंकार को ही सत्य न मान बैठ ले और उसी को सत्य का नाम न दे बैठे। बहुधा ऐसा ही होता है। कुछ लोग जो कटु बोलने के अभ्यस्त होते हैं, कह देते हैं कि 'भई मैं तो जो सत्य है, वही कह रहा हूँ और सत्य तो कड़ुवा ही होता है।' ऐसा नहीं कि सत्य कड़ुवा नहीं हो सकता। सत्य मीठा भी हो सकता है और कड़ुवा भी हो सकता है, पर एक बड़े महत्त्व का प्रश्न यह है कि सत्य का उद्देश्य क्या है? सत्य का एक उद्देश्य तो है – परम सत्य का साक्षात्कार और सत्य के दूसरे व्यावहारिक पक्ष का उद्देश्य यह है कि सत्य के आधार पर ही समाज सुव्यवस्थित रह सकता है, लोगों के मन में एक दूसरे के प्रति आस्था और विश्वास रह सकता है। अत: व्यावहारिक अर्थों में भी सत्य उपयोगी है।

अब कटु सत्य पर विचार करें, तो कई बार कटु औषधि भी दी जाती है, पर औषधि देनेवाला इस विवेक के साथ औषधि देता है कि कहीं उसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया तो नहीं होगी। कई औषाधियाँ बड़ी अच्छी होती हैं, उत्कृष्ट होती हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें खाते ही तत्काल मृत्यु हो जाती है। उस सर्वश्रेष्ठ औषधि देनेवाले का यह देखना भी कर्तव्य है कि सामने वाले व्यक्ति के जीवन में इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? उस औषधि से यदि सामने वाले व्यक्ति का जीवन परिवर्तित हो जाय, यदि उसमें अपने दोषों को मिटाने की इच्छा उत्पन्न हो जाय, तो ऐसी स्थिति में कटु सत्य भी उपयोगी हो सकता है। परन्तु यदि सामने वाले के मन या जीवन में उसकी उलटी प्रतिक्रिया हो जाय, उसका परिणाम यदि यह हो जाय कि वह अपने दोष मिटाने के स्थान पर, दोष बतानेवाले व्यक्ति में ही दस गुना और सौ गुना दोष ढूढ़ने लगे, तो एक टकराहट या संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। हम बहुधा अहंकार-मूलक सत्य को ही भ्रमवश सत्य मान बैठते हैं, जिसमें वस्तुत: अहंकार ही सत्य का वेष बनाकर आता है और उसके द्वारा दो व्यक्तियों में कटुता उत्पन्न हो जाती है, द्वेष तथा घृणा की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अत: सजग व्यक्ति इन दोनों सूत्रों को मिलाकर सत्य का निर्धारण करते हैं –

धरमु न दूसर सत्य समाना । २/९५/६
पर हित सरिस धर्म नहिं भाई ।। ७/४१/१

सत्य तथा परहित दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सत्य का प्रयोग करते समय यदि हमारी दृष्टि परहित की ओर हो, तो सारी समस्या का समाधान हो जाता है। सत्य का प्रयोग करते हुए यदि हमारे अन्त:करण में परहित की बुद्धि बनी हुई है, तो ऐसी स्थिति में वह सत्य कहनेवाले व्यक्ति के लिए और सुननेवाले व्यक्ति के लिये भी कल्याणकारी होगा। परन्तु यदि ऐसा नहीं है, तो सत्य केवल संघर्ष ही उत्पन्न करता है, उसका कोई वास्तविक लाभ नहीं होता।

चित्रकूट में धर्म की व्याख्या को लेकर एक जटिल समस्या आती है और उस युग के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा

कर्मयोगी के रूप में प्रसिद्ध मिथिलानरेश महाराज जनक के वहाँ आने पर गुरु वशिष्ठ को लगा कि इस विषय में उन्हीं से परामर्श लिया जाना चाहिए। वे एकान्त में वहाँ की समस्या को महाराज जनक के सामने रखते हैं और कहते हैं –

महाराज अब कीजिए सोई ।
सब कर धरम सहित हित होई ।। २/२९०/८

यहाँ पर भी हित को ही केन्द्र में रखा गया है। आप ऐसा समाधान दें कि जिससे न केवल प्रत्येक व्यक्ति के धर्म की रक्षा हो, अपितु सबका हित भी हो। अत: कहा जा सकता है कि सत्य की कसौटी परहित ही है और उसी के माध्यम से व्यावहारिक सत्य की परीक्षा की जानी चाहिए। वह वाक्य तो है ही – **सत्यं प्रियहितं च यत्**। इसमें भी सत्य को प्रिय के साथ हित कहकर हित को प्रमुखता दी गई है। तो ऐसी स्थिति में परहित ही एक ऐसा निर्विवाद धर्म है, जो समाज में सर्वत्र स्वीकार्य है। धर्म के अन्य लक्षणों को लेकर तो विवाद हो सकता है, परन्तु यह एक निर्विवाद लक्षण है और इसी के आधार पर हमारे जीवन में धर्म प्रतिष्ठित होना चाहिये, अन्यथा धर्म तो हमारे जीवन में अहंकार के वेश में भी आ सकता है। परहित पर आधारित धर्म हमारे लिए परम उपादेय हो सकता है। अत: परहित के लिए किया जानेवाला कार्य महानतम है। यहाँ 'पर' शब्द जोड़ना अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि स्वहित के लिए तो कोई उपदेश देने की जरूरत ही नहीं है, हर व्यक्ति अपने हित की चिन्ता में लगा ही हुआ है। हम लोग 'स्व' और 'पर' में बँटवारा कर लेते हैं और केवल अपने हित की चिन्ता करते हैं, दूसरों का हित चाहे नष्ट ही क्यों न हो जाय। अत: धर्म की कसौटी मात्र 'हित' ही नहीं, 'स्वहित' ही नहीं, अपितु 'परहित' है और इन दोनों का सामंजस्य ही धर्म का सत्य स्वरूप है।

इस प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग के सन्दर्भ में रामकृष्ण मिशन की एक अद्भुत परम्परा है। इसमें एक अद्भुत कल्पना यह है कि यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का अद्भुत सामंजस्य है। निवृत्ति-परायण साधु-ब्रह्मचारी लोग प्रवृत्ति से अलग रहकर केवल आत्मचिन्तन में ही तल्लीन नहीं रहते ! उस 'निवृत्ति' और इस 'प्रवृत्ति' में अन्तर बस इतना ही है कि अपने स्वार्थ की प्रवृत्ति के स्थान पर लोक-कल्याण के लिए प्रवृत्ति को स्वीकार किया जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी के माध्यम से मिशन के द्वारा समाज के सामने प्रवृत्ति-निवृत्ति का यह एक अद्भुत सामंजस्य प्रस्तुत किया गया और इसके द्वारा जो कार्य सम्पन्न किया जा रहा है, उसके परहित के सम्बन्ध में और धर्म के सर्वोच्च व्याख्या के रूप में तो इस पर कोई विवाद हो ही नहीं सकता है। जहाँ तक ज्ञान की बातें हैं, मानस के उत्तरकाण्ड में आप स्पष्ट ही पढ़ते हैं, वैसे तो धर्म के चार चरण हैं, लेकिन इस युग में धर्म का एक जो सर्वश्रेष्ठ पक्ष है, वह तो जीवन में होना ही चाहिये। उसके लिये लिखा गया – सत्य, तप, दया और दान – धर्म के ये चार चरण हैं, पर चाहे जैसे भी हो, यदि व्यक्ति दान देता रहता है, तो वह कल्याण-पथ पर भी अग्रसर होता है –

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान ।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान ।। ७/१०३ ख

व्यक्ति को यह सूत्र दृष्टिगत रखकर कार्य करना चाहिये। भगवान राम के चरित्र में जीवन के जो विविध पक्ष हैं, चाहे वे सत्य के विषय में हों या हित के विषय में, चाहे धर्म के विषय में हों या हिंसा-अहिंसा के विषय में, आज के युग का या किसी भी युग का कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका समाधान आपको भगवान श्रीराम के चरित्र में न मिले।

हमारे यहाँ धर्म की एक व्यवस्था की गई और वर्ण तथा आश्रम को धर्म की व्याख्या का मुख्य केन्द्र बनाया गया। रामराज्य के वर्णन में भी गोस्वामीजी यही कहते हैं – उस युग के सभी लोग अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल आचरण करते हुए सदा वेदमार्ग पर चलते थे –

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ।।७/२०

एक तो हमारे धर्म में 'वर्ण' के आधार पर कर्म निर्धारित करने की चेष्टा की गई है और उसके साथ-साथ एक दूसरा पक्ष है – 'आश्रम'। मनुष्य के विकास के लिए एक आश्रम-धर्म की भी व्यवस्था है। उसका भी चार रूपों या अवस्थाओं में विभाजन किया गया है – ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। यह व्यवस्था परम कल्याण के लिये ही की गयी है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि मैंने ही इसकी सृष्टि की, परन्तु एक बड़ी समस्या हमेशा से रही है और यह भगवान राम के युग में भी विद्यमान थी, महाभारत के युग में भी विद्यमान थी और आज के युग में भी विद्यमान है। वह यह है कि कोई भी व्यवस्था ऐसी नहीं हो सकती, जिसका दुरुपयोग न हो सके, या जिसमें कोई-न-कोई कमी न हो। समाज में जब भी कोई दुष्परिणाम उत्पन्न होता है, तो स्वभावत: व्यक्ति खोजता है कि इसमें दोष किसका है ! तब कभी किसी की दृष्टि वर्ण-व्यवस्था पर जाती है कि इसी के कारण सारा अनर्थ हो रहा है। किसी को लगता है कि आश्रम-व्यवस्था समाज के लिये हितकर नहीं है। लोगों को जैसा उचित प्रतीत होता है, वैसा कहते हैं। इस पर रुष्ट होने की जरूरत

नहीं है। यह बात जो कही जाती है, उसके पीछे हो सकता है कि कहनेवाले के मन में कोई दुर्भाव हो, परन्तु उनमें ऐसे भी अनेक लोग होते हैं, जिनमें सद्भाव होता है।

व्यक्ति को कोई भी बात सर्वांगीण रूप से समझने का प्रयास करना चाहिये। आप ग्रन्थ पढ़िए या सुनिए, तो पूरा सुनिए। आप महाभारत की कथा से परिचित हैं। चक्रव्यूह वाले दिन भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन दूर चले गये थे। दुर्योधन ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि उन्हें युद्धक्षेत्र में दूसरी ओर फँसा दिया जाय। द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की। यह समाचार जब पाण्डवों के पास पहुँचा, तो वे आतंकित हो गये। चक्रव्यूह के रहस्य का ज्ञान किसी को नहीं था। अभिमन्यु बोला – चक्रव्यूह में पैठने की विधि तो मैं जानता हूँ, पर निकलने की विधि का मुझे पता नहीं। – क्यों? अभिमन्यु ने बताया – जब मैं गर्भ में था, तो मेरे पिताजी माँ को चक्रव्यूह की रचना बताने लगे। माँ चक्रव्यूह में प्रवेश तक की बात तो सुन सकी, लेकिन आधी कथा सुनकर उन्हें नींद आ गयी और वे सो गयीं। अत: मैं निकलने की विधि नहीं जान पाया।

यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है – एक चक्रव्यूह तो इतिहास के सन्दर्भ में है, पर मानव भी उसी समस्या से ग्रस्त है। यह सृष्टि भी एक चक्रव्यूह है। कहते हैं न ! माया का चक्कर बड़ा प्रबल है। तो चक्कर शब्द तो चक्र से ही निकला हुआ है और इसमें सांकेतिक अर्थ यह है कि इस माया के चक्रव्यूह का रहस्य तो भगवान कृष्ण जानते हैं और दूसरे अर्जुन जानते हैं। परन्तु सुभद्रा का दुर्भाग्य यह है कि उन्होंने आधी बात ही सुनी और निद्रामग्न हो गयीं। यह एक सजगता का सूत्र है, पर उसका अर्थ केवल शरीर से सो जाने से नहीं हैं कि बस, नींद आ गई और सो गये। देखना होगा कि हम बुद्धि से भी जाग्रत हैं या नहीं? शरीर से तो जाग्रत रहने की आवश्यकता है ही, पर यदि हम बुद्धि से जाग्रत या चैतन्य नहीं हैं, तो हम अधूरी बातें ही सुनेंगे। परिणाम यह होगा कि हम इस संसार के चक्रव्यूह में पैठ तो जाएँगे, परन्तु निकल नहीं सकेंगे।

अत: प्रवृत्ति के चक्रव्यूह से पार पाने के लिये पैठने और निकलने दोनों ही कलाओं की आवश्यकता है। अंगद बड़े बुद्धिमान थे। समुद्र पार करने की बात आई, तो वे बोले – समुद्र तो मैं पार कर लूँगा, परन्तु मुझे थोड़ा सन्देह है कि लौटकर आ सकूँगा या नहीं –

अंगद कहइ जाऊँ मैं पारा।
जियँ संसय कछु फिरती बारा ।। ५/३०/१

यह लंका प्रवृत्ति की स्वर्णिम नगरी है। गोस्वामीजी कहते हैं, प्रवृत्ति मानो लंका का दुर्ग है –

वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग... ।। विनय. ५८

अंगद के विवेक की सराहना करनी होगी। उन्होंने कहा – मैं समुद्र को पार कर सकता हूँ और सम्भव है कि पार करके लंका पहुँच भी जाऊँ, परन्तु कौन कह सकता है कि वहाँ मेरी देहवृत्ति जाग्रत नहीं हो जाएगी ! यह एक बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। हर व्यक्ति कभी-न-कभी कुछ समय के लिए एक सीमा तक देह से ऊपर उठता ही है। कई बार आप लोग ऐसा अनुभव करते होंगे कि कार्य करते समय आपको अपने शरीर का भान ही नहीं रह जाता है। कई बार कार्य करते हुए आप शरीर की क्षमता से भी अधिक कार्य कर लेते हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति शरीर से ऊपर उठ गया है। बस, हम कह सकते हैं कि कुछ क्षणों के लिए शरीर से ऊपर उठ गया था। जब बन्दर कहते हैं कि मैं दस योजन पार कर लूँगा, बीस योजन पार कर लूँगा, पचास योजन पार कर लूँगा, तो वहाँ यही बात दिखाई देती है। कभी भगवत्कथा सुनते समय या संकीर्तन में आपको शरीर का भान नहीं रहता, कभी संगीत-सभा में आपको शरीर का भान नहीं रहता। तो किसको कितनी देर तक शरीर का भान नहीं रहता, यह अपनी-अपनी क्षमता की बात है। बन्दरों का यह कहना स्वाभाविक ही था कि मैं इतने योजन तो पार कर लूँगा, परन्तु सौ योजन नहीं कर सकूँगा। अंगद अधिक क्षमता वाले हैं, वे कहते हैं कि मैं पार तो कर लूँगा, पर जब प्रवृत्ति के उस दुर्ग में प्रवेश करूँगा, तो मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि मेरा देहभाव पुन: जाग्रत नहीं होगा।

यह एक बहुत बड़ी बात है। संसार में आपको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे। जिन्होंने बहुत-कुछ त्याग दिया और ऐसा लगा मानो वे देहधर्म से ऊपर उठे हुए हैं, परन्तु प्रवृत्ति में प्रवेश करने के बाद उन्हीं व्यक्तियों में इतनी दुर्बलता दिखाई देती है कि देखनेवाले को आश्चर्य होता है कि यह व्यक्ति, जो इतना ऊपर उठा हुआ था, आज उसे क्या हो गया?

हम अपनी क्षमता से कोई एक कार्य भले ही कर लेते हों, परन्तु जब हम उससे भिन्न वातावरण में जाते हैं, तो हमारी कुछ अज्ञात दुर्बलताएँ प्रकट हो जाती हैं। शरीर से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति भी जब प्रवृत्ति के राज्य में जाएगा, तो शरीर को छोड़कर तो जाएगा नहीं। शरीर को लेकर ही तो जाएगा। ऐसी स्थिति खूब सम्भव है कि वहाँ प्रवृत्ति का आकर्षण उसमें पुन: देहभाव जाग्रत कर दे और वह प्रवृत्तियों में ही उलझकर रह जाय। यही अंगद की बुद्धिमत्ता थी।

(क्रमशः)

सारगाछी की स्मृतियाँ (२८)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

वेदान्त में एक कहानी है। एक व्यापारी व्यवसाय करने के लिये गया। बहुत दिनों तक उसका कोई पता नहीं चला। घर में उसका एक लड़का और उसकी माँ हैं। वे लोग धन के अभाव में गरीब हो गये। किसी प्रकार से एक समय का भोजन मिलता था। बहुत दिनों के बाद समाचार आया कि वह व्यापारी बहुत बड़ा धनवान बनकर वापस आ रहा है। उसके साथ बहुत से लोग, सेवक-सेविकायें और नौकर-नौकरानियाँ हैं। उसकी माँ ने लड़के को आगे जाकर अपने पिताजी का स्वागत करने के लिये कहा। ठंडी का मौसम था। रात में कुछ दूर आकर वह एक अतिथि-भवन के एक कोने में थोड़ी सी जगह माँगा। बहुत देर बाद अतिथि-भवन के मालिक को दया आयी। उसने कहा कि जाओ, वहाँ पड़े रहो। शरीर पर सैकड़ों छेदवाला एक टुकड़ा कपड़ा था। उस दिन बहुत ठण्ड थी। वह लड़का कुकुर-कुंडली मारकर वहीं सोया हुआ था। कुछ देर बाद व्यापारी भी आकर उसी अतिथि-भवन में आश्रय माँगा। अतिथि-भवन के मालिक ने तो शीघ्रता से कमरा खोलकर लड़के को वहाँ से भगा दिया। वह लड़का क्या करेगा ! बेचारा ! फिर उस दिन तो भीषण ठण्ड थी। वह सामने एक वट वृक्ष के नीचे किसी प्रकार से सिकुड़-मिकुड़ सोकर ठण्ड से बचने का प्रयास करने लगा। दूसरे दिन सबेरे लोगों ने देखा कि पेड़ के नीचे एक लड़का मरा पड़ा है। वहाँ भीड़ जुट गयी। मुँह ढँका हुआ था। कोई भी डर से मृतक को स्पर्श नहीं कर रहा था। अचानक एक व्यक्ति कपड़ा हटाकर कह उठा अरे, यह उसी व्यापारी का पुत्र है ! कल देखा कि यहाँ घूम रहा था। इधर यह धनी व्यक्ति वही व्यापारी है, उसे वे लोग नहीं पहचान सके। वह व्यापारी भी भीड़ को देख कर खड़ा था। उसने जैसे ही सुना कि उसका ही लड़का है, वैसे ही सामने जाकर मुँह देखते ही 'मेरा बेटा !' कहते हुए गिर कर मर गया ! देखो, जब तक वह नहीं जानता था कि यह उसी का लड़का है, तब तक वह दु:खित नहीं था। किन्तु अपने को मरे हुए लड़के का पिता समझते ही शरीर त्याग दिया।

संन्यास के बाद मैं सोचा कि शास्त्र पढ़ना आवश्यक है। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या होती थी। वहाँ जाकर दो दिन बैठा। केवल शांकर-भाष्यम् का कच-कच होता था। अर्थ को समझने के लिये कोई रुचि नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग शास्त्र को पढ़ो और पढ़कर उसके अर्थ को भी समझो। किन्तु मैं विद्वान होने के लिये नहीं कह रहा हूँ। तुम्हारी आँख ठीक नहीं है, उससे क्या हुआ ! थोड़ा-थोड़ा पढ़ना और अधिक समय तक आँख बन्द करके बैठे रहना।

सामान्य लोग देखते हैं कि साधु लोग भी उन लोगों के जैसे ही खाते हैं, सोते हैं, रहते हैं और महिलाओं से मिलते-जुलते भी हैं। वे लोग सोचते हैं कि हम लोगो में और उन लोगों में क्या अन्तर है? सचमुच ही तो, यदि आश्रम में पूजा-पाठ और ध्यान देखता, तो क्या उसे ये बातें कहने का साहस होता?

मान लो, एक गुरुदेव सात शिष्यों के साथ काशी की यात्रा कर रहे हैं। गुरुदेव ने कह दिया था कि उनके शिष्य अपनी इच्छानुसार उनके साथ जा सकते हैं, अर्थात् उन लोगों को स्वाधीनता रहेगी। सभी लोग ईश्वर का नाम स्मरण-मनन करते-करते जा रहे थे। थोड़ी दूर आगे जाते ही एक पथिक शिष्यों की निन्दा कर रहा है। एक शिष्य खीझकर उसका उत्तर देने लगा। थोड़ी देर बाद एक दूसरे शिष्य ने मार्ग में देखा कि एक युवती रो रही है। वह उसकी समस्या के समधान में लग गया। बहुत देर से चल रहे हैं। एक शिष्य को भूख लगी। उसने रास्ते में देखा कि एक सेठजी ने भण्डारा की व्यवस्था की है। वह थोड़ा बलवान था। उसने सोचा कि भण्डारा खाकर शीघ्रता से चल कर अन्य लोगों को पकड़ लूँगा। एक शिष्य संगीत में पारंगत था। वह रास्ते में संगीत-समारोह देख कर थोड़ा सुनने के लिये बैठ गया। उन लोगों के यात्रा-मार्ग के किनारे एक राजा की पुष्प-वाटिका थी। एक शिष्य पुष्पप्रेमी था। वह फूलों की सुगन्ध

में मत्त हो गया। गुरुदेव तो अपने धुन में चले जा रहे हैं। तब भी दो शिष्य उनका अनुसरण कर रहे हैं। ग्रीष्म ऋतु का दोपहर का समय था। पेड़ के नीचे सुन्दर ठंडी हवा चल रही थी। एक शिष्य वहाँ थोड़ा लेट गया, थका होने के कारण, उसे नींद आ गयी। काशी के निकट पहुँच कर गुरुदेव ने पीछे मुड़कर देखा, तो साथ में केवल एक ही शिष्य काशी तक पहुँचा है।

१-७-२०१४

दीक्षा, मुक्ति आदि विषयों पर चर्चा चल रही है।

महाराज - जो जिसे चाहता है, वह मरते समय उसे ही प्राप्त करता है। दीक्षित होने से ही मुक्ति मिलेगी, यह निश्चित नहीं है। हम लोगों के ईश्वर तो निरंकुश और मन-मौजी ईश्वर नहीं हैं कि बलपूर्वक मुक्ति देंगे। यदि तुम मरते समय हृदय से मुक्ति चाहते हो, तो मुक्ति होगी। नहीं माँगने से वे क्यों देने जायेंगे? किन्तु यह सही है कि वे लोग इन चार मुक्ति के अन्तर्गत आयेंगे ही - जीवन्मुक्त, मुक्त, एकबार पुनर्जन्म होगा और संसार के जन्म-मरण-प्रवाह में ग्रस्त हो जायेगा।

प्रश्न - स्वामीजी ने कहा है, ठाकुर ने सोलह अंश किया है, हम लोग एक अंश करेंगे। उसके बाद जो लोग आयेंगे वे लोग सोलहवें अंश का एक अंश करेंगे, जैसे आप लोग हैं। हम लोग केवल सोलहवें अंश का एक अंश करेंगे।

महाराज - हम लोग और तुम लोगों में इतना भेद क्यों करते हो? हम लोग एक समान ही हैं, बल्कि तुम लोग अधिक अच्छे हो। किन्तु सुअवसर मिलना चाहिये। आजकल आश्रम में प्रवेश करने के साथ-साथ ही बड़े-बड़े कार्यों में संयुक्त होते जा रहे हैं। इससे उनका सब कुछ – मन, बुद्धि और कार्य-क्षमता उसी कार्य को करने में चली जा रही है। ठीक तब होता है, जब पहले के दस वर्ष किसी के सान्निध्य में धीरे-धीरे दायित्वपूर्ण कार्य में लगाया जाय।

अभी सब अच्छे-अच्छे लड़के आ रहे हैं। उन लोगों पर विश्वास करना चाहिये। एक वर्ग है, जो सब कुछ में दोष देखते हैं। देखोगे कि जिन लोगों की उम्र चालीस वर्ष से अधिक है, वे लोग कहेंगे कि हम लोगों के समय में इ-त-ना ख-रा-ब नहीं था। तब एक रूपया में १० सेर दूध मिलता था। पाँच प्रतिशत लोग शिक्षित थे, इसलिये सब अच्छा था। इधर किसान को दिन में एक बार भर पेट भोजन नहीं मिलता था, इसीलिये वह एक रुपये चार आने मूल्य में एक मन चावल बेचने के लिये मजबूर हो जाता था। दो आने मजदूरी थी, ग्वाला दस सेर दूध बेचकर दस आने पाता था। इसको ही कहता है कि बहुत अच्छा था!

अनैतिकता की बातें मत बोलो। अंगुली में गिने जाने वाले कुछ वर्ग के लोग सारे समाज का शोषण करते थे। पत्रिका में अश्लील चित्रों और विज्ञापनों का अर्थ ही अश्लील बातें हैं। अनुशासन किसे कहते हैं, इसे जानता ही नहीं था। स्कूल में जो शिक्षक पीटते थे, वे ही अच्छे शिक्षक थे! क्रूर परपीड़न (sadism) शिखर पर थी। 'वन्दे मातरम्' कहने पर वृद्ध लोग कहते थे कि इसे बाँध कर मारो, बाँध कर मारो। राजा की धरती पर निवास कर, उनका ही अन्न खाकर उन्हीं की निन्दा करता है। अंगुली में सूई गड़ा कर अत्याचार करते थे और वृद्ध लोग हा-हा करके हँसते हुए खुशी से उन कहानियों को बताया करते थे।

महाराजजी को बरामदे में स्नान कराया जा रहा है। नाली के पास एक कीड़ा घूम रहा था। सेवक ने स्नान कराने के बाद बालटी का पानी नाली में डाल दिया, उससे वह कीड़ा पानी में डूब गया।

महाराज - पानी थोड़ा धीरे से फेंकने पर वह कीड़ा बच जाता। उसका क्रम-विकास रुक गया। इस जीवन को प्राप्त करके उसकी जो क्रमोन्नति होती, वह बन्द हो गयी। इसके बाद कहाँ जन्म लेगा, इसका क्या पता! इसीलिये प्राणी की हिंसा करना निषेध है।

शाम को महाराजजी एक-दो लोगों के साथ भ्रमण कर रहे हैं और दूरदर्शन आदि के बारे में बात कर रहे हैं। तभी एक व्यक्ति ने आकर कहा कि वह मोहनबगान और इस्ट बेंगाल के खेल का विवरण रेडियो में सुनकर आ रहा है। उसे सुनकर एक व्यक्ति के द्वारा खेल का परिणाम पूछने पर महाराजजी ने कहा, "लंका में रावण मरा और बिहुला रोकर व्याकुल हो गयी! कहाँ खेल हो रहा है और कहाँ सब लोग हँस रहे हैं, रो रहे हैं। वह भी केवल सुनकर! सामान्य व्यक्ति जिनमें विचार-शक्ति नहीं है, वे लोग कुछ उत्तेजक कार्य करना चाहते हैं। विज्ञानी की दृष्टि में फुटबॉल-खेल और कुत्तों के खेल में कोई भेद नहीं होता है। सर्वदा मन बाहर धूम मचा देना चाहता है। थोड़ा-सा भी विचार करना उसे अच्छा नहीं लगता है। यदि मैं ठाकुर-स्वामीजी की पुस्तकों को नहीं पढ़ता, तो संसार की इन सब क्रिया-कलापों को देखकर मैं भी लोक-निन्दक हो जाता। **(क्रमशः)**

साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद (२)

स्वामी आत्मानन्द

(स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। प्रस्तुत व्याख्यान स्वामाजी ने कलकत्ता में दिया था, इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

आइंस्टाइन को समीकरण कैसे मिला?

आज जो विज्ञान का इतना बड़ा शौर्य, इतना बड़ा भवन दीख रहा है, उसका मूल आधार वही ऊर्जा-समीकरण है। उसके कारण ही संसार के ये सारे – अणु बम ! परमाणु बम ! हाईड्रोजन बम बन रहे हैं। पदार्थ को तोड़कर जितनी भी शक्ति मिल रही है, वह सारी शक्ति इस ऊर्जा समीकरण के माध्यम से ही आयी। उसके द्वारा ही यह ज्ञान मिला है। इतना बड़ा यह अविष्कार है ! किसी ने आइंस्टाइन से पूछा, आपको यह समीकरण कैसे मिला? क्या Trial and Error Method – परीक्षण और भूल-पद्धति से मिला? परीक्षण और भूल-पद्धति के बिना समीकरण बनता नहीं है।

Trial and Error Method – परीक्षण और भूल-पद्धति क्या है?

जैसे हम तराजू के दो पलड़ों में कोई चीज नापते हैं। दोनों पलड़ों को समान लाने के लिए, काँटे को ठीक मध्यस्थ रखने के लिये, एक तरफ अधिक हुआ तो थोड़ा कम कर देते हैं, दूसरी तरफ कम हुआ तो थोड़ा भार अधिक रख देते हैं। इसको परीक्षण और भूल-पद्धति कहते हैं। जैसे मेरे जीवन की एक छोटी-सी घटना है, उसके माध्यम से हम इस ट्रायल और एरर मेथड को समझ सकते हैं।

मैं बहुत छोटा था। प्राथमिक विद्यालय में दूसरी या तीसरी कक्षा में पढ़ता था। जब दशहरा, दीवाली की छुट्टी थी, तो मैं ननिहाल में गाँव गया था। वहाँ पर एक गुरुजी थे। पाठशाला तो एक पण्डितजी की थी, जो गाँव के बच्चों को पढ़ाते थे। गाँववाले पण्डितजी को अनाज, वस्त्र, रुपये आदि दे देते थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे देखकर पूछा - कब आये? मैंने कहा – सात-आठ दिन हो गये। उन्होंने कहा – अच्छा, मैंने सुना है कि तुम गणित में बड़े होशियार हो? मैं तुम्हें एक प्रश्न देता हूँ, क्या तुम बना सकते हो? मैंने कहा – गुरुजी ! आप बता दीजिए। मैं कैसे कह सकता हूँ कि बनेगा या नहीं बनेगा। उन्होंने कहा – ठीक है। उन्होंने प्रश्न दिया – एक आदमी के पास कुछ मुर्गियाँ और बकरियाँ हैं। यदि इन सबके सिर को जोड़ा जाय, तो चालीस होते हैं और पैरों को जोड़ा जाय, तो सौ होते हैं। अब तुम बताओ कि कितनी मुर्गियाँ और कितनी बकरियाँ हैं? उस समय मुझे बीजगणित का ज्ञान नहीं था। नहीं तो एक मिनट में ही उत्तर मिल जाता – मान लें, क – मुर्गियाँ हैं, ख – बकरियाँ हैं, तो क + ख = ४०, २क + ४ख = १००। बस क और ख का मान निकल गया, तो हो गया। लेकिन तब मुझे बीज गणित का ज्ञान नहीं था। मैंने कहा ठीक है, मैं कोशिश करता हूँ। उन्होंने पूछा – कब तक रहोगे? मैंने कहा – नरसों मैं जा रहा हूँ। उन्होंने कहा – ठीक है, जाने के पहले तुम बता देना। मुझे लगा कि जरूर प्रश्न कठिन है, नहीं तो क्यों कहते कि जाने के पहले तक बता देना? मैं अपनी नानी के घर गया। वहाँ खाना खाने के लिये बैठा, किन्तु मन अब उसी में ट्रायल और एरर मेथड में उलझा है। अच्छा उसके पास २० मुर्गियाँ और २० बकरियाँ हैं। ४० सिर तो हो गये, पर पैर कितने हुए? २० दूनी ४० और २० चौके ८०, कुल १२० हुये। नहीं, ये तो गलत है। यह ट्रायल और एरर मेथड है। अब फिर हिसाब शुरु हुआ। मान लो उसके पास १५ बकरियाँ और २५ मुर्गियाँ हैं, कुल ४० हो गये। १५ बकरियों के ६० पैर और २५ मुर्गियों के ५० पैर, अरे ये तो ११० हो गये, ये भी गलत है। मन-ही-मन इसी गणित में खाते-खाते हाथ रुक गया। यह देखकर नानी कह रही हैं कि आज क्या हो गया है तुझे? क्या कर रहा है? मैंने कहा – कुछ नहीं ! फिर खाने लगा। किन्तु पुनः मन में वही गणित चलने लगा। अच्छा, तो उसके पास १० बकरियाँ और ३० मुर्गियाँ मानें, तो १० बकरियों के ४० पैर और ३० मुर्गियों के ६० पैर, कुल १०० हो गये। प्रश्न का सही उत्तर मिल गया। मैं वैसे ही जूठे हाथ गुरुजी के पास दौड़ा। उनको प्रश्न पूछे आधा घंटा हुआ होगा। मैंने कहा – गुरुजी ! उसके पास १० बकरियाँ और ३० मुर्गियाँ थीं। उन्होंने कहा – जरूर तुझे किसी ने बताया है। इस प्रक्रिया को हम ट्रायल और एरर मेथड कहते हैं। गणित जम नहीं रहा है, समीकरण जम नहीं रहा है, तो इधर काटो, इधर जोड़ो। जब आइंस्टाइन से पूछा गया – आपने क्या ट्रायल और एरर मेथड से यह समीकरण प्राप्त किया ? उन्होंने कहा – कहा नहीं ? उन्होंने कहा – then I

saw this equation – मैंने इस समीकरण को देखा, ये उनके मुख के शब्द हैं – In an entry of light I saw this equation – मन की उड़ान, प्रज्ञा के उड़ान में मैंने इस समीकरण को देखा। वे चिन्तन कर रहे होंगे, मन उनका एकाग्र हो गया होगा और उस एकाग्रता के क्षण में उन्हें मानो वह समीकरण दिखाई पड़ा होगा। उसके बाद उसका परीक्षण करके उन्होंने उस समीकरण को सही पाया।

प्रज्ञा की उड़ान होती है और उस उड़ान में ऐसे सूत्र दिखाई देते हैं। जैसे हमने मन्त्र कहा। मन्त्र का क्या अर्थ होता है? बहुत छोटा-सा, शब्द-राशि अधिक नहीं है, शब्द छोटा-सा है, वाक्य बहुत छोटा-सा है, पर उस छोटे से वाक्य के भीतर में बहुत ऊर्जा भरी है, बहुत शक्ति है, उसको हम मन्त्र कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार आइंस्टाइन ने जो सूत्र देखा, जो समीकरण देखा, वह तो मानो शक्ति का भंडार है। आज संसार तो उसी से शक्ति प्राप्त कर रहा है। यह मन्त्र ही है।

मन्त्र-दर्शन कैसे?

ऐसे ही मन्त्र के रूप में प्राप्त इन श्लोकों को ऋषियों ने देखा है और ठीक ऐसे ही देखा है। जब मन सूक्ष्म हो जाता है, पवित्र हो जाता है, तो मन की गति अबाध हो जाती है। अभी तो मन की गति अबाध नहीं है। आप यह कह सकते हैं, मन तो कहीं भी जा रहा है। हमने कितने स्थान देखे हैं। मन पल भर में इंग्लैण्ड चला जाता है, अमेठी चला जाता है। जहाँ-जहाँ जाकर हमने कुछ देखा या अनुभव किया पल भर में मन सभी जगह चला जाता है। आप कहेंगे कि क्या यह मन की अबाध गति नहीं है? हम कहेंगे कि मन बहुत दूर तक चला जाता है, पर यह अबाध गति नहीं कहलाती है। इसके लिये भी बाधा है, इसके लिए भी सीमा है। देश और काल को बाध करके, भेद करके मन नहीं जा सकता है, पर जब मन पवित्र होता है, तो सूक्ष्म हो जाता है और सूक्ष्म होने से देश और काल की गतियों को बाधित कर देता है। तब ऐसे समय में ये मन्त्र दिखाई देते हैं। केनोपनिषद में वह प्रक्रिया भी हमारे सामने रखी गई है, जिसके माध्यम से हमारा मन निर्बाध हो सकता है, उस निर्बाध गति को प्राप्त कर सकता है।

शंकराचार्य द्वारा उपनिषद-भाष्य

भगवत-पूज्यपाद आचार्य शंकर के द्वारा जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखे गये – ईश, केन, कठ, मुण्डक प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, उनमें केनोपनिषद को दूसरा मानते हैं। जो बारहवीं श्वेताश्वतर है, उसके सम्बन्ध में मतभेद है कि आदि शंकराचार्य जी ने वह भाष्य नहीं रचा, ऐसा बहुतों का मत है और मेरा व्यक्तिगत मत वही है, वह आदिशंकराचार्य का भाष्य नहीं है। जो भी हो, यह उपनिषद साहित्य है।

उपनिषद नाम क्यों?

उपनिषद क्यों कहते हैं? अन्य कोई नाम क्यों नहीं दिया? इसके लिए उपनिषद का क्या अर्थ है? सद् धातु है और इस धातु में उप और नि ये दो उपसर्ग लगे हैं। उप का अर्थ होता है समीप, नि का अर्थ है अत्यन्त। उप और नि का तात्पर्य हुआ अत्यन्त समीप। अत्यन्त समीप जाने से क्या होता है? सद् धातु के तीन अर्थ हैं – एक अर्थ है विशरण के अर्थ में, माने पूरी तरह से नष्ट कर देना। दूसरा अर्थ जाना, प्राप्त होना और तीसरा अर्थ है अवसादन, शिथिल कर देना। यह किसका नाश करता है? यहाँ पर वे कहेंगे कि जो मनुष्य के जीवन में जन्म, जरा रोग आते हैं, इनका नाश करता है, अविद्या के बन्धन को शिथिल कर देता है और परब्रह्म के पास, उस परम सत्य के पास आत्यन्तिक रूप से पहुँचा देता है। इसीलिये भगवत-पूज्यपाद शंकराचार्य जी मुण्डक उपनिषद पर भाष्य लिखते हुये उपनिषद शब्द की व्याख्या में कहते हैं – **य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्ति आत्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तः तेषां गर्भ-जन्म-जरा-रोगादि अनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति अविद्यादि- संसारकारणं च अत्यन्तम् अवसादयति विनाशयति इति उपनिषत्, उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।** यह उपनिषद शब्द का अर्थ है। जब हम इस ब्रह्मविद्या के पास आत्मीयतापूर्वक अपना अत्यन्त सगा मानकर श्रद्धा-भक्ति के साथ उसके अत्यन्त निकट जाते हैं, तो वह हमारा कल्याण करती है। जैसे हम किसी चिकित्सक के पास जाते हैं, चिकित्सक की दवा तभी कारगर होती है, जब उसके प्रति हमारी श्रद्धा होती है। यदि चिकित्सक में श्रद्धा ही न हो, तो कितनी भी बढ़िया दवा वह दे, उस दवा का पूरा फल हमें नहीं मिलता है। अत: चिकित्सक के पास श्रद्धापूवक जाना चाहिये। हमने सुना है कि वे बड़े चिकित्सक हैं, बहुतों को उन्होंने आराम पहुँचाया है, कठिन से कठिन बीमारी उन्होंने दूर कर दी है। जब ऐसी प्रंशसा उनके बारे में सुनते हैं, तो चिकित्सक से मानसिक लगाव होता है, उसके प्रति आत्मभाव होता है। ऐसा मानकर जब जाते हैं, तो फल मिलता है। **(क्रमशः)**

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

४७. आश्चर्यलोक में एलिस

एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न आ रहा है और उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इस संसार में नियम या सम्बन्ध जैसा कुछ भी नहीं है, परन्तु हम सोचते हैं कि हर चीज आपस में घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। सम्भवत: आप सभी ने 'आश्चर्यलोक में एलिस' (Alice in Wonderland) नामक पुस्तक पढ़ी होगी। वह इस शताब्दी में बच्चों के लिए लिखी गयी सबसे अद्भुत पुस्तक है। मैंने उसे पढ़कर बड़ा आनन्द लिया। मेरे मन में हमेशा से बच्चों के लिए उस प्रकार की पुस्तक लिखने की इच्छा रही है। उसमें मुझे सबसे अच्छी बात यह लगी कि उसमें वही है, जिसे आप सबसे अधिक असंगत समझते हैं – किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एक भाव आता है और दूसरे में कूद पड़ता है तथा उनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। जब आप बच्चे थे, तो सोचते थे, तो आप उसे सबसे अद्भुत सम्बन्ध मानते थे। अत: इस व्यक्ति ने अपने बचपन के उन विचारों को लेकर, जिन्हें वह बचपन में पूर्ण रूप से सम्बद्ध समझता था, बच्चों के लिये इस पुस्तक की रचना की है। परन्तु वयस्क लोग बच्चों के लिये जो पुस्तकें लिखकर अपने विचारों को बच्चों के गले के नीचे उतारने का प्रयास करते हैं, वे सब व्यर्थ हैं। हम सभी लोग वयस्क बच्चे मात्र ही हैं, बस !

हमारा यह संसार भी एलिस के अद्भुत लोक के समान ही एक असम्बद्ध वस्तु मात्र है, जिसमें एक का दूसरे के साथ किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं है।

हम जब कुछ घटनाओं को कई बार एक विशेष क्रम में घटित होते देखते हैं, तो हम उसी को 'कार्य-कारण' का नाम देते हैं और कहते हैं कि वही घटना दुबारा होगी। जब यह सपना बदलेगा, तो उसकी जगह आनेवाला दूसरा सपना भी इसी के समान क्रमबद्ध प्रतीत होगा। सपने में हम जो कुछ देखते हैं, वे एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, सपने के दौरान हमें कभी वह असम्बद्ध या असंगत नहीं लगता, केवल हमारे जानने के बाद ही हम उसमें असम्बद्धता देख पाते हैं। इसी प्रकार जब हम इस संसार-रूपी सपने से जागेंगे और इसकी वास्तविकता के साथ तुलना करेंगे, तब हमें यह पूर्णत: असम्बद्ध और निरर्थक प्रतीत होगा – हमारे सामने से होकर गुजरता हुआ असम्बद्धता का एक समूह मात्र प्रतीत होगा। हम नहीं जानते कि वह कहाँ से है आया है और कहाँ जा रहा है, परन्तु हम इतना तो जानते हैं कि उसका अन्त होने वाला है। इसी को माया कहते हैं और यह तेजी से गुजर रहे मेघों के समूह के समान है। (६/२९४-९५)

४८. संसार-वृक्ष के दो पक्षी

निम्नलिखित उपाख्यान में समग्र वेदान्त दर्शन का सार निहित है – स्वर्णिम पंखोंवाले दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं। ऊपर बैठा हुआ पक्षी तेजस्वी है और शान्त भाव से अपनी महिमा में तल्लीन है। निचली डाल पर बैठा हुआ पक्षी चंचल है और वृक्ष के कभी मीठे, तो कभी कड़वे फलों का उपभोग कर रहा है। एक बार उसके खाये हुए फल का स्वाद अत्यन्त कड़वा था, तब वह क्षण भर के लिये रुका और ऊपर की डाली पर बैठे हुए उस शान्त महिमामय पक्षी की ओर देखा। परन्तु वह शीघ्र ही दूसरे पक्षी की बात को भूलकर पहले के समान ही वृक्ष के फलों को खाने में व्यस्त हो गया। एक बार फिर उसके फल का स्वाद बड़ा कड़वा निकला – इस बार वह फुदक-फुदक कर थोड़ा ऊपर चढ़ा और उस सर्वोच्च डाल पर बैठे पक्षी के कुछ निकट जा पहुँचा।

ऐसा ही अनेकों बार हुआ। वह नीचे का पक्षी अन्तत: ऊपरी डाल के पक्षी की जगह पर जा बैठा और अपने अस्तित्व को खो बैठा, अर्थात् ऊपर वाले पक्षी के साथ एकाकार हो गया। उसे अचानक ही यह बोध हुआ कि दो पक्षी कभी थे ही नहीं और चिरकाल से ही वह शान्त, दिव्य और अपनी महिमा में डूबा हुआ ऊपर वाला पक्षी ही था। (७/९५)

भूल सुधार

नवम्बर, २०१४ के पृष्ठ-५३४ में, कविता में पढ़ें - ''हँसता रह न बन उदास क्रान्ति गीत गाये जा।।'

दिसम्बर, २०१४ के पृष्ठ-५७३ में उलटा छप गया है। वहाँ उद्बोधन, कोलकाता के स्थान पर नीलाम्बर भवन, बेलूड़ मठ को पढ़ें और नीलाम्बर भवन की जगह उद्बोधन , कोलकाता पढ़ें।

जनवरी, २०१५ के पृष्ठ-४० में, कविता में पढ़ें - 'गीता का वरदान है।'

श्रीरामकृष्ण देव की भक्ति-साधना

स्वामी निखिलात्मानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

श्रीरामकृष्ण देव का जीवन धर्म का जीता जागता प्रतीक है। उन्होंने हिन्दू, इस्लाम, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों की साधना करके सम्यक् रूप से ईश्वर की अनुभूति की थी। हिन्दू धर्म के वैष्णव, शाक्त, वेदान्त, आदि विभिन्न मतों के माध्यम से उन्होंने परमात्मा की उपलब्धि की थी। किन्तु ईश्वर का सर्वप्रथम दर्शन उन्हें जगन्माता काली के रूप में भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। इसीलिये नारदीय भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का सहज उपाय बताते हुए वे कहते हैं – "कलिकाल के लिए भक्तियोग है, नारदीय भक्ति। ईश्वर का नाम-गुणगान और व्याकुल होकर प्रार्थना करना – हे ईश्वर मुझे ज्ञान दो, भक्ति दो, दर्शन दो।"[१] इस युग के लिये भक्तियोग है। इससे दूसरे मार्गों की अपेक्षा ईश्वर के पास पहुँचने में सुगमता है। ज्ञानयोग या कर्मयोग अथवा दूसरे मार्गों से भी लोग ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं, परन्तु इन सभी मार्गों से लक्ष्य प्राप्त करना बहुत कठिन है।[२]

श्रीरामकृष्ण ने व्याकुलता के बल पर जगन्माता का दर्शन प्राप्त किया था। कलकत्ता स्थित दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में वे निष्ठा के साथ माता काली की पूजा करते और 'माँ दर्शन दे, दर्शन दे', कहकर रो-रोकर माँ से प्रार्थना करते। इस प्रकार उनकी व्याकुलता दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। उनका आहार कम हो गया, निद्रा आदि कम हो गये। शरीर का रक्त-प्रवाह, वक्षस्थल तथा मस्तिष्क में निरन्तर द्रुतगति से प्रवाहित होने के कारण उनका वक्षस्थल सदा आरक्त रहने लगा। उनकी आँखें अश्रुसिक्त होने लगीं तथा भगवद्-दर्शन के निमित्त अत्यन्त व्याकुलताजनित 'क्या करूँ, कैसे दर्शन प्राप्त हो' – इस प्रकार की निरन्तर चिन्ता उनके भीतर विद्यमान रहने लगी। फलस्वरूप ध्यान-पूजनादि के समय को छोड़कर शेष समय में उनके शरीर में एक प्रकार की अशान्ति और व्यग्रता दिखायी देने लगी।[३]

देवर्षिनारद ने अपने भक्तिसूत्र (२-३) में भक्ति की परिभाषा करते हुए कहा है – **सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च।** अर्थात् भक्ति परमेश्वर के प्रति एकान्तिक प्रेम है तथा वह अमृत स्वरूपा है। वे फिर १९ वें सूत्र में कहते हैं - **नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति च** । अर्थात् प्रेम की बहुत सी परिभाषाएँ दी गयी हैं, पर नारद जिन्हें प्रेम का चिह्न बताते हैं, वे हैं – 'जब मन, वचन और कर्म सब ईश्वरार्पित कर दिए जाते हैं और जब तनिक देर के लिये भी ईश्वर का विस्मरण मनुष्य को अत्यन्त दुखी, व्याकुल कर देता है, तब प्रेम का आरम्भ हो गया है।

श्रीरामकृष्ण ने शास्त्रों का कोई अध्ययन नहीं किया था। एक तरह से वे निरक्षर ही थे। किन्तु इसके माधयम से उन्होंने यह दर्शाया कि ईश्वर-उपलब्धि के लिये पाण्डित्य और शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम और भक्ति की। इसीलिए भक्तों द्वारा यह पूछने पर कि कैसी अवस्था होने पर ईश्वर के दर्शन होते हैं। श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "खूब व्याकुल होकर रोने से उनके दर्शन होते हैं। स्त्री या लड़के के लिये लोग आँसुओं की धारा बहाते हैं, रुपये के लिये रोते हुए आँखें लाल कर देते हैं, ईश्वर के लिये कोई कब रोता है? ईश्वर को व्याकुल होकर पुकारना चाहिए।" "व्याकुलता हुई कि मानो आसमान पर सुबह की ललाई छा गयी, शीघ्र ही सूर्य भगवान निकलते हैं, व्याकुलता के बाद ही भगवद्-दर्शन होते हैं।"

"विषय पर विषयी की, पुत्र पर माता की और पति पर सती की, यह तीन प्रकार की चाह एकत्रित होकर जब ईश्वर की ओर मुड़ती है, तभी ईश्वर मिलते हैं।"

भक्ति मार्ग में भगवान को प्राप्त करने के पाँच भाव बताये गये हैं – शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर भाव। इनमें से किसी भी एक भाव के अवलम्बन से भगवान के पास जाया जा सकता है। जगन्माता का दर्शन प्राप्त करने के बाद श्रीरामकृष्ण का मन सहज ही अपने

कुलदेवता श्रीरघुवीर की ओर गया। हनुमानजी जैसी भक्ति होने से भगवान राम के दर्शन होंगे, यह सोचकर श्रीरामकृष्ण अपने आपको हनुमान समझकर दास्य भाव से श्रीराम की आराधना करने लगे। परवर्तीकाल में उन्होंने कहा था, ''उन दिनों निरन्तर हनुमानजी का चिन्तन करते-करते मैं इतना तन्मय हो जाता था कि अपने पृथक अस्तित्व और व्यक्तित्व को भी कुछ समय के लिए पूरी तरह भूल गया था। उन दिनों आहार-विहारादि सब कार्य हनुमानजी के समान ही होते थे। मैं जान-बूझकर करता था सो बात नहीं, स्वयं ही वैसा हो जाता था। धोती को पूँछ की आकार का बनाकर उसे कमर में लपेट लेता था और कूदते हुए चलता था। फल-मूल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाता था। उस समय इनके छिलके निकालने की प्रवृत्ति भी नहीं होती थी। दिन का बहुत सा समय पेड़ पर बैठकर ही बिताया करता था और 'रघुवीर, रघुवीर' की पुकार गम्भीर स्वर से किया करता था। उन दिनों आँखें भी वानर की आँखों के समान चंचल रहा करती थीं और अधिक आश्चर्य की बात तो यह कि पीठ की रीढ़ का अन्तिम भाग लगभग एक इंच बढ़ गया था। किन्तु महावीर का भाव मन से दूर होते ही वह बढ़ा हुआ भाग धीरे-धीरे कम होने लगा और अन्त में पूर्ववत् हो गया।''५

इस दास्य-भाव की साधना के समय श्रीरामकृष्ण को सीताजी का अभूतपूर्व दर्शन प्राप्त हुआ था। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा – ''उन दिनों एक दिन मैं यों ही पंचवटी के नीचे बैठा था। इतने में वहाँ एक अनुपम ज्योतिर्मयी स्त्री-मूर्ति प्रकट हुई और उसके दिव्य तेज से वह स्थान प्रकाशित हो गया। मैंने देखा कि वह स्त्री कोई मानवी ही होगी, क्योंकि त्रिनयन आदि दैवी लक्षण उसमें नहीं थे, परन्तु प्रेम, दु:ख, करुणा, सहिष्णुता आदि विकारों को स्पष्ट दिखाने वाला उसके समान तेजस्वी और गम्भीर मुखमण्डल मैंने कहीं नहीं देखा। वह मूर्ति मेरी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। मैं चकित होकर यह सोच रहा था कि यह कौन आ गया इतने में कहीं से एक बड़ा भारी बन्दर 'हुप' 'हुप' करते हुए आया और उसके चरणों के समीप बैठ गया, तभी मेरे मन में अचानक यह आया, 'अरे, यह तो सीता हैं, जन्मदु:खिनी, जनकराजनन्दिनी राममयजीविता सीता हैं' – मन में ऐसा निश्चिय होते ही आगे बढ़कर उनके चरणों में मैं लोटने वाला ही था कि इतने में वहाँ पर वे इस (अपनी ओर अँगुली दिखाकर) शरीर में प्रविष्ट हो गयीं और आनन्द और विस्मय के कारण मैं भी बाह्यशून्य हो गया।''६

भैरवी ब्राह्मणी की सहायता से तंत्रोक्त शक्तिसाधना में सिद्धि प्राप्त करने के बाद श्रीरामकृष्ण के मन में वैष्णव मत की साधना करने की इच्छा हुई। इसी समय सम्भवत: १८६३ में जटाधारी नामक एक रामायणपन्थी साधु दक्षिणेश्वर आये। उनके पास 'रामलला' – बालक रामचन्द्र की अष्टधातु निर्मित छोटी-सी मूर्ति थी और वे सदा अत्यन्त निष्ठापूर्वक उसी की सेवा में निमग्न रहते। भक्तियुक्त अन्त:करण से तन्मय हो रामलला की पूजा करते हुए जटाधारी बाबा को अनेक दिव्य दर्शन आदि होते।

इस समय श्रीरामकृष्ण स्वयं को जगदम्बा की दासी या सखी मानते हुए उनकी पूजा सेवा में मग्न रहते थे। रामलला की बालमूर्ति देख उनके मन में उसके प्रति वात्सल्यभाव उत्पन्न हुआ और वे जटाधारी से राम मंत्र की दीक्षा लेकर वात्सल्य भाव की साधना में प्रवृत्त हुए। शीघ्र ही यह रामलला चिन्मय रूप धारण कर उनके साथ अनेकविध अपूर्व बालसुलभ लीलाएँ करने लगा। श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, ''जैसे मैं तुम लोगों को देख रहा हूँ, रामलला को ठीक इसी प्रकार देखा करता था। मुझे सचमुच यह दिखाई देता था कि कभी वह मेरे आगे-आगे और कभी पीछे नाचता हुआ मेरे साथ चला आ रहा है। कभी मेरी गोद में चढ़ने के लिए हठ कर रहा है। पुन: जब मैं उसे गोद में लिए रहता था, तो कभी-कभी किसी भी तरह वह गोद में नहीं रहना चाहता था, गोद से उतरकर धूप में दौड़ना, काँटेदार झाड़ियों में जाकर फूल तोड़ना या गंगाजी में उतरकर उछल-कूद मचाना चाहता था। मैं उसे मना करता, तो वह कमल जैसे सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर मुस्कुराता हुआ और भी अधिक उधम मचाने लगता था।''७ इस तरह श्रीरामकृष्ण रामलला की दिव्य बाललीला में मग्न हुए थे। निरन्तर उस दिव्य मूर्ति के ध्यान में तन्मय होकर उन्होंने अनुभव किया था कि –

जो राम दशरथ का बेटा, वही राम घट-घट में लेटा।
वही राम जगत पसेरा, वही राम सबसे न्यारा।।

वात्सलय भाव में सिद्धिप्राप्त करने के बाद श्रीरामकृष्ण मधुरभाव की साधना में प्रवृत्त हुए। वैष्णव साधना में मधुर भाव को शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य भावों की सार-समष्टि अथवा परिपूर्ति माना जाता है। इन शास्त्रों के

अनुसार श्रीराधा का प्रेम ही दिव्य प्रेम का सर्वोच्च और श्रेष्ठतम उदारहण है। राधारानी ने जिनका पूरा मन-प्राण श्रीकृष्ण में लगा हुआ था, अपने शरीर में पूरे उन्नीस भावों तथा उनके दैहिक प्रभावों की अभिव्यक्ति की थी। इनके पश्चात् श्रीचैतन्य महाप्रभु का ऐतिहासिक उदाहरण रखा जाता है, जिन्हें राधा-कृष्ण का संयुक्त विग्रह माना जाता है। मूर्तिमान भक्ति की इस परम्परा में श्रीरामकृष्ण तृतीय हुए। उक्त मत के अनुसार सर्वप्रथम श्रीराधारानी की कृपा पाये बिना श्रीकृष्ण का दर्शन पाना असम्भव जानकर श्रीरामकृष्ण उस समय दत्तचित्त से राधारानी की उपासना में प्रवृत्त हुए थे। उनकी प्रेमघन मूर्ति के स्मरण, मनन तथा ध्यान में निरन्तर मग्न रहकर अविच्छिन्न रूप से उनके श्रीचरणों में उन्होंने अपने हृदय की व्याकुल उत्कण्ठा निवेदित की थी। फलत: वे अविलम्ब ही श्रीराधारानी का दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हुए थे, अन्यान्य देव-देवियों के दर्शन के अनुरूप उस मूर्ति को भी उन्होंने अपने में विलीन होते देखा। वे कहते थे, "श्रीकृष्ण के प्रेम में सर्वस्व विसर्जित करने वाली निरूपम पवित्रोज्जवल मूर्ति श्रीराधा की महिमा तथा मधुरिमा का वर्णन करना असम्भव है। श्रीराधारानी की अंगकान्ति को मैंने 'नागकेशर' पुष्प के केसरों की भाँति गौरवर्ण देखा था।'

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "उन्नीस प्रकार के भाव जब एक आधार में प्रकट होते हैं तो उसे महाभाव कहा जाता है, यह बात भक्ति शास्त्रों में विद्यमान है। साधना के द्वारा एक-एक भाव की सिद्धि में ही मनुष्य का जीवन व्यतीत हो जाता है। (अपने शरीर को दिखाते हुए) यहाँ पर एकाधार में उन उन्नीस प्रकार के भावों का एकत्र पूर्ण प्रकाश है।"[१०]

उस समय श्रीरामकृष्ण का ईश्वर के प्रति पतिभाव का प्रेम परिशुद्ध तथा घनीभूत होने के कारण ही उन्होंने उपरोक्त रूप से राधाजी की कृपा का अनुभव किया था तथा उस प्रेम के प्रभाव से अल्पकाल बाद ही उनको सच्चिदानन्द-घन विग्रह श्रीकृष्ण का पुनीत दर्शन प्राप्त हुआ था। वह मूर्ति भी अन्य मूर्तियों की भाँति उनके श्रीअंगों में मिल चुकी थी। उस समय श्रीकृष्ण के चिन्तन में एकदम तन्मय होकर अपने पृथक अस्तित्वबोध को भूलकर उन्होंने कभी अपने को श्रीकृष्ण के रूप में अनुभव किया था और कभी आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सभी का श्रीकृष्ण के विग्रह के रूप में दर्शन किया था। एक दिन बगीचे से घास का एक फूल तोड़कर अपने शिष्यों को दिखाते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय (मधुर भाव के साधन के समय) प्राय: मुझे जो श्रीकृष्ण का दर्शन होता था, उनके शरीर का रंग इस फूल के रंग के समान था।"

मधुर भाव में अवस्थित रहते समय श्रीरामकृष्ण को एक दूसरा दिव्य दर्शन हुआ था। उस समय वे दक्षिणेश्वर के विष्णु-मन्दिर के बरामदे में बैठकर श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे थे। सुनते-सुनते भावाविष्ट हो उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की ज्योतिर्मयी मूर्ति का दर्शन किया। तदनन्तर उन्होंने देखा कि उस मूर्ति के पादपद्मों से रस्सी की तरह एक ज्योति निकल कर सर्वप्रथम उसने श्रीमदभागवत् को स्पर्श किया एवं तदुपरान्त उनके वक्षस्थल में संयुक्त होकर उन तीनों वस्तुओं को कुछ देर के लिए उसने एक साथ संयुक्त कर रखा। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि इस प्रकार के दर्शन से उनके मन में यह दृढ़ धारणा हुई थी कि भागवत्, भक्त और भगवान, ये तीनों भिन्न रूप से प्रकट रहते हुए भी एक ही हैं अथवा एक ही पदार्थ के तीन रूप हैं। भागवत् (शास्त्र), भक्त और भगवान – तीनों एक हैं तथा एक ही तीन हैं।[१२]

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने भक्ति के समस्त सोपानों द्वारा ईश्वर का दर्शन प्राप्त किया था। भक्ति की महत्ता दर्शाते हुए वे कहते हैं – "इस युग के लिए भक्तियोग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्त एक जगह जायेगा, ज्ञानी या कर्मी दूसरी जगह। इसका तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मज्ञान चाहते हैं, वे अगर भक्ति से चलें, तो भी उन्हें वही ज्ञान होगा। भक्तवत्सल अगर चाहेंगें तो वह भी दे सकते हैं।"

स्वामी विवेकानन्द जिनका पूर्व नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था, वे ईश्वर-दर्शन के लिए बड़े व्याकुल हुए थे। यही व्याकुलता उन्हें श्रीरामकृष्ण के पास ले आई थी। उनसे उन्होंने पहली ही भेंट में पूछा था, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "हाँ, बेटा, जैसा मैं तुझे देख रहा हूँ, उससे भी स्पष्ट रूप से मैंने ईश्वर के दर्शन किये हैं। अगर तू चाहेगा, तो तू भी उनके दर्शन कर पायेगा।" श्रीरामकृष्ण की इस प्रकार की उक्ति ने नरेन्द्रनाथ को उनके प्रति आकृष्ट किया था। नरेन्द्र उस समय ब्राह्म-समाज के सदस्य थे, जो ईश्वर के सगुण निराकार उपासना पर विश्वास करता है। इसलिए नरेन्द्रनाथ का ईश्वर के निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार रूप पर विश्वास नहीं था। फलत: मूर्ति-पूजा को अन्धविश्वास मानकर

वे उसकी निन्दा करते थे तथा ईश्वर के निर्गुण रूप का उपहास उड़ाया करते थे। नरेन्द्रनाथ को ज्ञान का उत्तम अधिकारी जानकर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें पहले ही दिन से अष्टावक्र-गीता आदि वेदान्त ग्रन्थों का पाठ करने दिया था। उसे थोड़ा पढ़कर उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था, "नास्तिकता से यह किस प्रकार भिन्न है? जीव अपने को स्रष्टा समझे, इससे अधिक पाप और क्या हो सकता है? मैं ईश्वर हूँ, तुम ईश्वर हो, जन्म-मरणशील सारे पदार्थ ही ईश्वर हैं, इससे अधिक अयौक्तिक बात और क्या हो सकती है?" इसी प्रकार वे एक दिन परिहास करते हुए कह रहे थे, "क्या यह भी सम्भव है कि लोटा ईश्वर है, कटोरा ईश्वर है और जो कुछ दिखाई पड़ता है तथा हम सब भी ईश्वर हैं?" तभी श्रीरामकृष्ण आकर उन्हें स्पर्श कर देते हैं। नरेन्द्रनाथ कहते थे, "उनके उस दिन के अद्भुत स्पर्श से मेरे भीतर क्षण भर में भावान्तर हो गया। स्तम्भित होकर सचमुच ही मैं देखने लगा – ईश्वर के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में अन्य कुछ भी नहीं है। .... इसके बाद से कभी मुझे अद्वैत तत्त्व के विषय में सन्देह नहीं रहा।"

श्रीरामकृष्ण देव ने अपने शिष्य नरेन्द्रनाथ, जो ईश्वर के निराकार रूप पर ही विश्वास करते थे, उन्हें ईश्वर के सगुण साकार रूप पर विश्वास भी नाटकीय रूप से कराया था। पिता की अकाल मृत्यु के कारण नरेन्द्रनाथ का परिवार दाने-दाने के लिए मोहताज हो गया। अन्त में बाध्य हो नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण से अनुरोध किया कि वे जगदम्बा से उनका आर्थिक कष्ट दूर करने की प्रार्थना करें। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "मैं ऐसी प्रार्थना माँ से नहीं कर सकता। तू स्वयं जाकर माँ से प्रार्थना कर, वे तेरी बात अवश्य सुनेंगी।" काली मन्दिर में जाकर माँ के सम्मुख नरेन्द्र उपस्थित होते हैं। उनके ही शब्दों में, "मन्दिर में उपस्थित होकर मैंने देखा, माँ यथार्थ में ही चिन्मयी, जीवित प्रतिमा, अनन्त प्रेम तथा सौन्दर्य की आधाररूपिणी हैं ! भक्ति और प्रेम से हृदय उछलने लगा। मैं विह्वल हो बारम्बार प्रणाम करते हुए कहने लगा, "माँ, मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो, जिससे मैं तुम्हारा अबाध दर्शन नित्य प्राप्त कर सकूँ, ऐसा कर दो !"

श्रीरामकृष्ण के पास लौटकर आते ही उन्होंने पूछा, "क्यों रे ! माँ से गृहस्थी का अभाव दूर करने की प्रार्थना की है? उनके प्रश्न से चौंककर मैंने उत्तर दिया, 'नहीं महाराज, मैं तो भूल गया था, अब क्या करूँ?' उन्होंने कहा 'जा, फिर जाकर प्रार्थना कर आ।' मैं पुन: मन्दिर की ओर चला और माँ के सामने उपस्थित होकर पुन: मुग्ध हो गया और सब कुछ भूलकर बारम्बार प्रणाम करते हुए ज्ञान और भक्ति के लिए प्रार्थना करके लौट आया।"१५ इस प्रकार दूसरी बार भी नरेन्द्र अपने भौतिक अभावों को दूर करने के लिये माँ से प्रार्थना नहीं कर पाये। श्रीरामकृष्ण पुन: तीसरी बार भेजते हैं। उस बार भी नरेन्द्र माँ से ज्ञान और भक्ति की याचना करके लौट आते हैं। स्वामी सारदानन्द लिखते है, "यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नरेन्द्रनाथ के जीवन में एक विशेष घटना थी। ईश्वर के मात्र भाव और प्रतीक तथा प्रतिमा में उनकी उपासना करने का गूढ़ रहस्य अब तक उन्हें हृदयंगम नहीं हुआ था। मंदिर में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं की मूर्ति पर वे इसके पहले अवज्ञा के सिवाय कभी भक्ति से उनका दर्शन भी नहीं कर सके थे। अब से उस प्रकार की उपासना का सम्यक् रहस्य उनके हृदय में प्रतिभासित होकर उनका आध्यात्मिक जीवन अधिकतर पूर्ण और व्यापक हो गया।"१६

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण की कृपा से स्वामी विवेकानन्द ईश्वर के निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार रूप के विश्वासी बनते हैं। परवर्तीकाल में ३१ मार्च, १९०१ में ढाका के अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा था, "वर्तमान समय में प्रचलित इस मूर्तिपूजा के भीतर नाना प्रकार के कुत्सित भावों के प्रवेश कर लेने पर भी, मैं उसकी निन्दा नहीं कर सकता। यदि उसी कट्टर मूर्ति-पूजक ब्राह्मण (श्रीरामकृष्ण) की पद-धूलि से मैं पुनीत न बनता, तो आज मैं कहाँ होता ?१७

एक और घटना स्वामी विवेकानन्द के जीवन में सर्वभूतों में ईश्वर-दर्शन की भावना को दृढ़ीभूत बना देती है और यह रामकृष्ण मठ और मिशन के कार्य की आधारशिला बनती है। सन् १८८४ की घटना है। श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर स्थित अपने कमरे में भक्तों से घिरे बैठे थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे। वार्तालाप के प्रसंग में वैष्णव मत की बात उठी। इस मत के सार तत्त्वों को संक्षेप में व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले, "इसके अनुसार ये तीन बातें नित्य करणीय हैं – नाम में रुचि, जीव पर दया और वैष्णव की सेवा। जो नाम है, वही ईश्वर है - नाम और नामी को अभिन्न जानकर सर्वदा अनुराग पूर्वक जप करना चाहिए। भक्त और भगवान, कृष्ण और वैष्णव को अभिन्न जानकर सर्वदा साधु-भक्तों के प्रति श्रद्धा

और उनकी सेवा करनी चाहिए तथा सारा विश्व कृष्ण का ही है, ऐसा समझकर सब जीवों पर दया करनी चाहिए। 'सब जीवों पर दया' – इतना कहकर ही श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। वे वाक्य को पूरा भी न कर पाये। कुछ समय बाद जब उनकी अर्ध चेतना लौटी तो वे कहने लगे, 'जीवों पर दया, जीवों पर दया, दूर् मूर्ख ! तू कीटाणुकीट, जीवों पर दया करेगा ! दया करने वाला तू होता कौन है? नहीं, नहीं, जीवों पर दया नहीं, शिवज्ञान से जीवसेवा।'' भावाविष्ट श्रीरामकृष्ण की यह बात सबने सुनी, पर उसका गूढ़ मर्म नरेन्द्र को छोड़कर उस समय कोई भी नहीं समझ सका। श्रीरामकृष्ण के प्रकृतिस्थ होने पर नरेन्द्र कमरे के बाहर आकर बोले, ''गुरुदेव की बात से आज कैसा अद्भुत आलोक मिला ! शुष्क, कठोर और निर्मम समझे जानेवाले वेदान्त-ज्ञान को भक्ति के साथ मिलाकर उन्होंने कैसा सहज, सरस और मधुर प्रकाश डाला है।''

''गुरुदेव की इस उक्ति से भक्ति मार्ग पर भी प्रभाव पड़ता है। जब तक सर्वभूतों में ईश्वर के दर्शन नहीं होते, तब तक यथार्थ भक्ति या पराभक्ति होना साधक के लिये दूर की बात है। कहना न होगा कि शिव या नारायण समझकर जीव की सेवा करने से साधक अल्पकाल में ही ईश्वर को सबके भीतर देख सकेगा और यथार्थ भक्ति की प्राप्ति कर कृतकृत्य हो सकेगा।''

श्रीरामकृष्ण के इस ''शिवज्ञान से जीवसेवा'' के उपदेश के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द मानो भक्ति के सारतत्त्व को प्रस्तुत करते हैं तथा श्रेष्ठ भक्त बनने की प्रेरणा देते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि उत्तम भक्त वे हैं – ''जो सभी प्राणियों में अपना तथा भगवान का दर्शन करते हैं और सभी प्राणियों को ईश्वर के भीतर तथा अपने भीतर देखते हैं।''[१८] मध्यम भक्त वे हैं - ''जिनका ईश्वर के प्रति प्रेम है, भक्तों के साथ जिनका मैत्री भाव है, अज्ञानियों पर जिनकी कृपा रहती है तथा ईश्वर-विद्वेषियों की जो उपेक्षा करते हैं।[१९] तथा सामान्य भक्त वे हैं – ''जो श्रद्धा से प्रतिमा आदि में ईश्वर की उपासना करते हैं, किन्तु भक्तों और अन्य प्राणियों की सेवा नहीं करते।''[२०]

स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति के इसी सारतत्त्व को रामेश्वरम् मन्दिर में प्रदत्त अपने भाषण में प्रस्तुत करते हुए कहा था, ''वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है, परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है। यदि किसी ने किसी निर्धन व्यक्ति की सेवा-शुश्रूषा बिना जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच के भेदभाव के यह विचार कर की है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उस मनुष्य से, दूसरे एक मनुष्य की अपेक्षा जो कि उन्हें केवल मन्दिर में देखता है, अधिक प्रसन्न होंगे।[२१]

सन्दर्भ –

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत भाग-२ पृ. १५५ **२.** वहीं, भाग-२ पृ. १०६ **३.** वही, भाग-१ पृ. २१३ **४.** वही, भाग - १ पृ. १४-१५ **५.** श्रीरामकृष्णलीलामृत - पृ. २१२ **६.** वही, पृ. २१३ **७.** श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग खण्ड-२, पृ.२९० **८.** वही, खण्ड-१, पृ. ३२० **९.** वही, खण्ड-१, पृ. ३५१ **१०.** वही, खण्ड-१, पृ. ३५२ **११.** वही, खण्ड-१, पृ. ३५४ **१२.** वही, खण्ड-१, पृ. १९२ **१३.** वही, खण्ड-२ - पृ. १९२ **१४.** वही, खण्ड-३, पृ. १२० **१५.** वही, खण्ड-३, पृ. १८१ **१६.** वही, खण्ड-३, पृ. १८२ **१७.** वही, खण्ड-५, पृ. ३४७ **१८.** सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येषु भागवतोत्तम ॥ (भागवत ११/२/४५) **१९.** ई वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सुच। प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ (भागवत ११/२/४६) **२०.** अर्चायमेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते। न तद् भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ (भागवत ११/२/४७) **२१.** विवेकानन्द साहित्य खण्ड-५, पृ. ३८.

त्याग से शान्ति

एक चील को चोंच में एक मछली पकड़े हुए उड़ते देख सैकड़ों कौए और चील उसका पीछा करने लगे तथा उसे टोंचते और काटते हुए उस मछली को छीनने की कोशिश करने लगे। वह चील जिधर जाती, ये कौए और चील भी चिल्लाते हुए उधर ही जाते। अन्त में परेशान होकर उसने मछली फेंक दी। उस मछली को तुरन्त ही दूसरी चील ने उठा लिया। देखते-ही-देखते सभी कौओं और चीलों ने पहली चील को छोड़कर दूसरी चील का पीछा करना शुरु कर दिया। तब पहली चील निश्चिन्त होकर एक पेड़ की डाली पर चुपचाप बैठ गई। उसकी इस शान्त और निश्चिन्त अवस्था को देख अवधूत ने उसे प्रणाम करते हुए कहा, 'तुम मेरी गुरु हो ! तुमने मुझे सिखाया कि संसार की वासनाओं और उपाधियों को छोड़ देने से ही शान्ति मिल सकती है, वरना महान विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं।

– श्रीरामकृष्ण देव

श्रीमाँ सारदा का अन्तिम सन्देश

ब्रह्मचारी वैराग्यचैतन्य, पटना

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

जो देवी सम्पूर्ण प्राणियों में शक्ति रूप में विद्यमान हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। यही शक्तिस्वरूपा देवी प्राणिमात्र के कल्याण के लिए एवं मातृत्व का आदर्श स्थापित करने हेतु जयरामवाटी नामक एक छोटे से गाँव में श्रीमाँ सारदादेवी के रूप में अवतरित हुईं।

माँ की जीवनी में हम देखते हैं कि माँ के शरीर-त्याग के पाँच दिन पहले 'अन्नपूर्णा' नाम की एक महिला भक्त माँ से मिलने के लिए आती है। उन दिनों माँ से मिलने की अनुमति किसी को नहीं थी, इसलिए वह वहीं दरवाजे की चौखट के पास बैठ गई। कुछ देर बाद माँ ने उसे अपने पास बैठने का इशारा किया। वह माँ के पास घुटने पर बैठ कर सिसक कर रोते हुए कहने लगी, "माँ, आप के बाद हमलोगों का क्या होगा?" माँ ने धीमे और अस्पष्ट शब्दों में उसे समझाया, "तुम्हें किसका भय है? तुमने तो ठाकुर को देखा है।" थोड़ा रुककर माँ बोलने लगी, "मैं एक बात बताती हूँ - यदि मन में शान्ति चाहती हो, तो किसी के दोष नहीं देखना। इसके बदले अपना दोष देखो। इस संसार को अपना बनानो सीखो ! कोई पराया नहीं है मेरी बेटी, सम्पूर्ण संसार तुम्हारा ही है।" श्रीमाँ का यह अन्तिम संदेश पूरे संसार के लिए था।

माँ के इन शब्दों में अपनत्व था। इन शब्दों से माँ के आन्तरिक स्वभाव एवं पूरे जीवन का परिचय मिलता है। वे जिस ईश्वरीय सत्ता का स्वयं में अनुभव करती थीं, उसी को वे सभी जीवों में देखती थीं। इसलिए माँ की अदोष-दृष्टि थी।

मानव जीवन का उद्देश्य है ईश्वर का साक्षात्कार करना। इस पर शास्त्रों में विस्तार से चर्चा की गई है। हम वेदान्तसार में देखते है – **जीव-ब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्य प्रमेयं तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात् ।** ईश्वर-साक्षात्कार का अर्थ है अपने अन्दर अज्ञानरूपी आवरण से ढके हुए आनन्द-स्वरूप को प्राप्त करना। अब प्रश्न है कि इस आनन्द की प्राप्ति कैसे होगी? जब हम अपने मन को स्व-स्वरूप की ओर ले जाएगें, तब होगी। कठोपनिषद में कहा गया है –

पराञ्चि खानि व्यतृणत्-स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङपश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।। (कठ. २.१.१)

– परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया है। इसलिए जीव अन्तरात्मा को न देखकर बाह्य विषयों को ही देखता है। अमरत्व की इच्छा करने वाला कोई धीर पुरुष अपनी इन्द्रियों का दमन कर प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

अमरत्व की प्राप्ति और इसकी साधन-प्रणाली को ही श्रीमाँ ने बड़े ही सुन्दर एवं सरल रूप में अपने अन्तिम संदेश में व्यक्त किया है।

श्रीमाँ ने अपने अन्तिम उपदेश में उक्त महिला-भक्त से यह नहीं कहा, मैं करुणारूपिणी हूँ और मैं ही तेरा उद्धार करूँगी, बल्कि उन्होंने अभय वचन देकर कहा – तुमने तो भगवान को देखा है, तो फिर तुम्हें क्या भय है? परन्तु दूसरे ही क्षण वे बोल रही हैं, किन्तु मुझे एक बात कहनी है, "यदि तुम मन में शान्ति चाहती हो, तो किसी के दोष मत देखना।' यहाँ पर वे अपनी करुणा को छिपाकर एक शर्त रखती हैं – यदि तुम शान्ति चाहती हो, तो। यहाँ पर माँ हमें निर्देश दे रही हैं कि यदि संसार के किसी भी व्यक्ति को शान्ति चाहिए, तो उसे उनके उपदेश का जीवन में आचरण करना होगा।

दोष-दृष्टि और शान्ति-प्राप्ति

शान्ति किसे नहीं चाहिए? क्या हम शान्ति पाने का प्रयास नहीं कर रहे हैं? हमलोग अपने सभी कर्तव्य-कर्म, ध्यान-पूजा आदि सब कुछ शान्ति पाने के लिए ही कर रहे हैं। सत्य के बल पर ही हम शान्ति के पथ पर जा सकेगें। सत्य यही कि हम अपने दोषों को स्वीकार करें। हमें अपनी त्रुटियों का आत्मपरीक्षण करना चाहिए। किन्तु विडम्बना यह है कि हम अपनी त्रुटियों के उपर ध्यान न देकर दूसरों की त्रुटियों पर ध्यान देते हैं। इसलिये अथक कर्म करने के बाद भी हमें शान्ति नहीं मिलती।

शान्ति कैसे मिलेगी?

क्या हमें शान्ति मिल सकती है? हाँ, यदि हम कर्तव्य-कर्मों को अच्छे ढंग से करें, तो हमें शान्ति मिल सकती है। परन्तु कर्म क्या है? माँ बोल रही हैं, "तुम शुद्ध मन से अपना कार्य करते रहो, दूसरों के दोष को मत

देखना।'' इससे ही शान्ति मिल जाएगी। माँ के इस उपदेश में महर्षि पतंजलि के सूत्रार्थ की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है –

मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम् ।।

(पातंजल योगसूत्र, समाधिपाद-३३)

– सुख, दुःख, पुण्य और पाप – इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, आनन्द और उपेक्षा का भाव धारण कर सकने से चित्त प्रसन्न होता है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र मानसिक शान्ति के रहस्य को उद्घाटित करता है । स्वामी विवेकानन्द राजयोग में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'हममें ये चार प्रकार के भाव रहने चाहिए। यह आवश्यक है कि हम सबके प्रति मैत्री-भाव रखें, दीन-दुखियों के प्रति दयालु हों, लोगों को सत्कर्म करते देख सुखी हों और दुष्ट मनुष्य के प्रति उपेक्षा दिखायें।''

यदि हम इन पवित्र सूत्रों को अपने चित्त में उतार लें, तो हमारा चित्त पवित्र हो जाएगा। माँ हमें समझा रही हैं कि यदि हम तत्काल दोष-देखना दूर नहीं कर पा रहे हैं, तो दोषों में आसक्त न हों, उनसे दूर रहें। जब हमारा मन सद्भावपूर्ण एवं सबल हो, तो हम दूसरों के दोष कैसे देख सकते हैं? जब कोई भगवान में मन लगाता है, तो वह दूसरों में दोष देखना बन्द कर देता है। गीता में भी भगवान दृष्टि सुधार कर समदर्शी होने को कह रहे हैं –

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

(गीता ५.१८)

– आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चाण्डाल में समदर्शी होते हैं।

माँ वैदिक ऋषिका गार्गी, मैत्रेयी की जैसी वाक्शैली में अपना संदेश दे रही हैं। हम इसे माँ का महावाक्य कह सकते हैं। हम दूसरो में दोष क्यों देखते हैं? क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम दुर्बल क्यों है? क्योंकि हम स्वार्थी हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – स्वार्थ एक पाप है, और दुर्बलता भी पाप है। सद्वृत्ति दूसरों की मदद करती है। जब व्यक्ति दूसरों में दोष ढूँढ़ता है, तब वह पाप को बढ़ावा देता है। हमलोगों में इतना साहस नहीं हैं कि हम अपमान सहन कर सकें और अपना भार उठा सकें।

श्रीमाँ सारदा देवी एक अन्य प्रसंग पर कहती हैं, ''जब व्यक्ति दूसरों में दोष देखता है, तब वह अपने मन को उस दोष के स्तर पर ले जाता है। जब हम दूसरे व्यक्ति का दोष देखते हैं, तो उस व्यक्ति की क्या हानि होती है? इससे केवल हमारी ही क्षति होती है। मैं दूसरों में दोष नहीं देखती हूँ। कोई भी व्यक्ति मेरी थोड़ी-सी भी सहायता करे, तो मैं उसे याद रखने की कोशिश करती हूँ। दूसरों में दोष कभी भी नहीं देखना चाहिए। मैंने ऐसा कभी नहीं किया। क्षमा करना यही मेरी तपस्या है।''

एक वेश्या महिला-भक्त माँ के पास प्रायः आया करती थी। उसका माँ के पास आना अन्य साधु एवं महिला-भक्तों को पसन्द नहीं था। एक बार बलराम बाबू की पत्नी ने गोलाप-माँ के द्वारा श्रीमाँ को सूचित किया कि यदि वह वेश्या महिला-भक्त लगातार यहाँ आया-जाया करेगी, तो अन्य भक्तों के लिये यहाँ आना कठिन हो जाएगा। माँ ने कहा – जो लोग मेरे आश्रय में हैं, वे ही लोग यहाँ आयेंगे। यदि कोई किसी के यहाँ आने से नहीं आता, तो इसमें मैं क्या कर सकती हूँ? जब श्रीमाँ उसके हाथ से अन्न और उसकी सेवा लगातार लेती रहीं, तो उससे सीख कर दूसरे लोग भी अनुसरण करने लगे।

माँ के जीवन में ऐसे बहुत से प्रसंग मिलते हैं। लेकिन यहाँ पर हम दो घटनाओं पर ही विचार करेंगे, जिसमें माँ का समत्व भाव प्रकट हुआ है।

एक दिन सुबह किसी ने झाड़ू लगाकर उसे एक कोने में फेंक दिया। यह देख कर माँ बोल उठीं, यह तुमने क्या किया? तुमने काम समाप्त होने के बाद झाड़ू फेंक दिया ! जितने समय में तुमने इसे फेंका है, उतने समय में तो तुम आराम से कोने में रख सकते थे। किसी भी वस्तु को तुच्छ समझ कर उसे फेंकना नहीं चाहिए। यदि हम वस्तुओं का आदर करेंगे, तो वे भी हमें आदर करेंगी। क्या तुम्हें फिर से उस झाड़ू की जरूरत नहीं पड़ेगी? आखिर यह भी तो हमारे परिवार का सदस्य ही है, इसलिए हमें झाड़ू को भी सम्मान देना चाहिए। छोटा-सा कार्य भी हमें सम्मान पूर्वक करना चाहिए।

दूसरी घटना है। एक दिन राधू की पालतू बिल्ली का बच्चा बरामदे में पड़ा हुआ था। एक महिला-भक्त उस बिल्ली के बच्चे के साथ पाँव से खेल रही थी। इसी बीच उसने अपना पैर बिल्ली के बच्चे के सिर पर रख दिया। यह देखकर माँ बोलीं, यह तुम क्या कर रही हो मेरी

बच्ची? सिर गुरु का स्थान है, किसी के भी सिर को पैर से स्पर्श नहीं करना चाहिए। बिल्ली को प्रणाम करो।

परदोष-दृष्टि और निन्दा से कैसे निकलें, इसके बारे में माँ परामर्श दे रही हैं। माँ उद्‌बोधन के ठाकुर-मन्दिर में पान बना रही हैं। उसी समय एक शिष्य भी उपस्थित थे। माँ उनसे पूछ रही हैं – "कल एक लड़का आया था, "क्या वह चला गया है?"

शिष्य – हाँ, वह डॉ. कांजीलाल के पास एक या दो दिन रह सकता है। शरत् महाराज जी बोल रहे थे कि "यदि वह लड़का अपने अहंकार के कारण यहाँ से चला गया है, तो वह नीचे स्तर पर गिर जाएगा। यदि वह शर्मिंदा होकर गया होगा, तो उसका पुनर्जन्म हो जाएगा।

माँ – यह क्या बात है? वह तो लड़का है, लड़की नहीं है। इसे तोड़ना तो आसान है, पर कितने लोगों ने जोड़ा है? सभी लोग उसकी निन्दा-उपहास कर सकते हैं, लेकिन कितने लोग उसे सही रास्ते पर ला सकते हैं? यही मनुष्य की दुर्बलता है।

माँ का सन्देश : कोई भी पराया नहीं है

माँ ने कहा था, कोई पराया नहीं है। हमारी कमजोरी है कि हम लोगों को पराया मानकर उसका दोष देखते रहते हैं। हम अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रति जागरुक नहीं रहते। नहीं तो, हमें किसी का दोष नहीं दीखता। भक्त कभी भी दूसरे भक्त में दोष नहीं देखता, क्योंकि वह जानता है भगवान सबमें विद्यमान हैं, सभी हमारे अपने हैं, कोई हमसे अलग नहीं है। किसी दूसरे व्यक्ति में दोष देखना भगवान में ही दोष देखना है। यदि हमलोग भगवान से प्रेम और तादात्म्य भाव रखने लगें, तो हममें सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव जाग्रत होगा।

कोई भी पराया नहीं, इसके बारे में शास्त्रों में बहुत विस्तार से चर्चा की गई है। दो प्रकार के भक्त होते हैं। एक में काम-क्रोध रहता है। वह सांसारिक वस्तुओं के पीछे भागता है और उसका परिणाम उसे दुःख मिलता है। परन्तु भक्त संसार के प्रत्येक प्राणी में भगवान का ही रूप देखता है और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है। उसके लिये कोई भी पराया नहीं होता है। इसकी बृहदारण्यक उपनिषद में विस्तृत चर्चा की गयी है –

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्याऽात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परायाद्योऽन्यात्रात्मनः क्षत्रं वेदं लोकास्तं परादुर्योऽन्याऽत्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यात्राऽत्मनो वेदान्वेद, वेदास्तं परदुर्योऽन्यत्राऽत्मनो वेदान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यात्राऽत्मन वेदांन्वेद, भूतानि तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मनः सर्ववेदः इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रं इमें लोका, इमे देवाः इमे वेदाः इमामि भूतानि, इदं सर्वं यदयम् आत्मा।

इसका सारांश है कि यदि तुम विचार करो कि तुम ब्रह्म से अलग हो, तो ब्रह्म तुम्हें दूर ही रखेंगे। वैसे ही यदि क्षत्रिय और शुद्र भी सोचने लगें कि हम अलग हैं, तो यह पृथकता का भाव उसे ब्रह्म से अलग ही रखेगा। वे अपनी जगह पर रहेंगे, कभी आगे नहीं बढ़ पायेंगे। इसलिये किसी में भेद-दृष्टि मत रखो। किसी को पराया मत समझो।

माँ का सन्देश था – सारा संसार तुम्हारा है, संसार को अपना बनाना सीखो

माँ कहती थीं – 'यह संसार तुम्हारा है।' यदि यह पराया नहीं है, तो इसे अपना बनाना होगा। जब संसार के सभी जीवों के प्रति अपनत्व का भाव विकसित होगा, तो हमारे दृष्टिकोण में एक सकारात्मक परिवर्तन आ जाएगा।

जब माँ के यहाँ सब जाति-धर्म के व्यक्ति आकर एक पंक्ति में बैठकर खाने लगे, तब माँ बोल उठीं, इसमें कहाँ जाति दिखायी देती है? ये सभी मेरी अपनी ही सन्तान हैं। माँ की यह वाणी केवल शब्द नहीं है, यह तो उनकी अनुभूति है। माँ के जीवन में यह निष्ठा विद्यमान थी। उन्होंने कभी शास्त्र नहीं पढ़ा, लेकिन उनका जीवन शास्त्रमय था।

माँ हमेशा अपने पास आनेवाले लोगों को सर्वाधिक निश्छल प्रेम देती थीं। सबको प्रेम से खाने-पीने को पूछती थीं। लोगों को आवश्यक सामग्रियाँ देती थीं। सबको सुख में सन्मार्ग दिखाती थीं, दुखों में सहभागी होकर सान्त्वना देती थीं। इस प्रकार अपने स्नेह द्वारा वे सद्‌विचार देकर अपनी सन्तानों के मन को शुद्ध कर ईश्वर-पथ पर संचालित करती थीं। ऐसी थी हमारी निर्दोषदृष्टिसम्पन्न प्रेममयी माँ सारदा! इस प्रकार प्रेम देकर सबको अपना बनाया जा सकता है। अत: जीवन में शान्ति के अभिलाषी को माँ के इस महामन्त्र को सदा याद रखना चाहिये।

पवित्रं चरितं यस्याः पवित्रं जीवनं तथा।
पवित्रतास्वरूपिण्यै तस्यै कुर्मो नमो नमः।

OOO

साधक-जीवन कैसा हो? (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द,
सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

(ईश्वरप्राप्ति के लिये जिज्ञासु साधना में प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु प्राय: वे उन चीजों की उपेक्षा कर जाते हैं, जिन छोटी-छोटी चीजों से साधक-जीवन ईश्वर की ओर अग्रसर होता है। एक साधक का जीवन कैसा होना चाहिये और उसे अपने जीवन में किन-किन चीजों का ध्यान रखना चाहिये, इस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से इस व्याख्यान में चर्चा की गयी है। प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द महाराज ने रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर द्वारा आयोजित आध्यात्मिक शिविर में मार्च, २०११ में दिया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों हेतु इसका टेप से अनुलिखन नागपुर की सुश्री चित्रा तायडे और कुमारी मिनल जोशी ने है तथा सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

यहाँ एक वृद्धा रहती हैं। अभी यहाँ आने से पहले मैं उनसे मिलने गया था। बहुत दिन बाहर रहना है, इसलिये सोचा कि एक बार भेंट कर लूँ। उनको देखने के लिये उनकी बहू है और घर में नौकरानी है। वर्तमान में कोई पुरुष घर में नहीं है। वे बहुत वृद्ध, लगभग ९० वर्ष की हैं। मेरे जाने पर उन्होंने पूछा – बहुत दिन बाद आये, कैसे हो? थोड़ी-बहुत बातचीत की। थोड़ी देर बाद मैंने पूछा – माई, आप कैसी हैं? तो उन्होंने अपना थोड़ा-बहुत हाल-चाल बताया। एकाध बार मैंने डॉक्टर को पूछ लिया। डॉक्टर ने कहा कि महाराज इनको कोई रोग नहीं है। रोगमुक्त वार्धक्य है और वार्धक्य का तो कोई इलाज नहीं है। वे वृद्धा कहने लगीं कि यह डॉक्टर ठीक नहीं देखता है, तो वह डॉक्टर ठीक नहीं देखता है, किसी दूसरे को बुलाना चाहिये। यह ठीक सेवा नहीं करती है इत्यादि। फिर मैंने उनकी बहू से पूछा, तो वह कहने लगी – महाराज, आपको क्या बताऊँ ! सबेरे उठती हैं, तो नाश्ता करने के बाद कहती हैं, मुझे बरामदे में बैठा दो। मुझे नित्य उन्हें बरामदे में बैठाना पड़ता है। उनका घर शहर के एक व्यस्ततम रास्ते के पास है। उनके बरामदे से सड़क दिखती है। वहाँ सैकड़ों मोटरें और गाड़ियाँ आदि चलती रहती हैं। अब बताइये, वृद्धावस्था में क्या हुआ? उनको कोई काम नहीं है। नब्बे वर्ष की अवस्था है ! कब श्वास बन्द हो जाय, कोई ठिकाना नहीं। भगवान का नाम लो। लगभग ४०-४५ साल पहले तत्कालीन भारत के एक बहुत अच्छे सन्त थे। उनसे उन वृद्धा माताजी ने दीक्षा ली थी। उन्होंने उनको भगवान का नाम जपने को कहा था। अब पता लग रहा कि गुरु की आज्ञा का कितना पालन किया है। भगवान के नाम के सम्बन्ध में वे कहने लगीं, हम से भगवान का नाम लिया नहीं जाता है। यह उनका दोष नहीं है। किन्तु ऐसा कैसे हुआ? क्योंकि उन्होंने अभ्यास नहीं किया। इसलिये मैं आप-सबसे नम्रतापूर्वक निवेदन करता हूँ कि स्वयं से साधना शुरु करें। तीन दिन शिविर में आप यहाँ हैं। तीन दिन यहाँ रहकर घर लौट जायेंगे। घर लौटने के बाद भी आप दस मिनट का समय निकाल कर एकान्त में बैठें। कहीं एकान्त न मिले, तो बाथरुम में चले जायँ, वहाँ तो कोई आपको बाधा नहीं देगा। वहाँ आँख बन्द कर बैठ जायँ। वहाँ कुछ नहीं करना है, यदि हाथ में घड़ी हो, तो केवल दस मिनट में १०० बार घड़ी देखनी पड़ेगी । मुश्किल से दो-चार मिनट देख पायेंगे। मैं अपनी बात कह रहा हूँ। आप लोग करके देख लीजिए। ऐसा क्यों? क्योंकि हमने कभी भी अपने आपमें रहने का अभ्यास नहीं किया। कभी भी अपने भीतर की ओर देखने का प्रयत्न नहीं किया। बहिर्मुखी व्यक्तित्व क्या करता है? वह हमें बाहर की ओर दौड़ाता है। चाहे आप कहीं भी, किसी भी वाहन से जा रहे हों। आपकी नौकरी ऐसी है कि आपको बम्बई में रोज एक घण्टे रेलगाड़ी में जाना पड़ता है। शायद २०-२५ साल से जा रहे हैं। स्टेशन में जितने रास्ते पड़ते हैं, सबको आप देखते हैं। एक स्टेशन के बाद अरे कौन सा स्टेशन आया? माटुंगा आ गया क्या? ओह ! घाटकोपर आ गया क्या? हमारी दृष्टि वहाँ गयी, जहाँ sign board लगे होते हैं, विज्ञापन लगे होते हैं। घर के बाहर निकलते ही हम देखते हैं कि क्या कोई विज्ञापन लगा है? आपने सैकड़ों बार देखा है, फिर भी रोज पढ़ते हैं। यह तेल लगाने से बाल बहुत काले और बड़े हो जाते हैं। इस विज्ञापन को पढ़कर मेरी बिटिया और बहनें उस सुझाव को मान लेती हैं। हमलोग भी कोई कम नहीं हैं। जब हम लोग देखते हैं कि फलाना कोई अच्छा शेविंग क्रीम लगाने से चेहरा चिकना हो जाता है, हम उसे ही लगाते हैं। हम जानते हुए भी उसे रोज पढ़ते हैं। कभी मन में नहीं आता है कि हम इसे जानते हुए भी रोज-रोज क्यों पढ़ें? ऐसा

इसलिये होता है कि हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्ति हमको बाहर की ओर ले जाती है। उसका यह स्वभाव है। बाहर की ओर ले जाने के स्वभाव को हमारे शास्त्रों में आशा कहा गया है। शास्त्र के शब्दों से डरिये मत। उस आशा के विषय में ५००० साल पहले भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में हमें बताया – **आशापाश शतैः बद्धाः**। भगवान व्यास भागवत में कहते हैं – **आशा ही परमं दुःखम्** – आशा ही परम दुख है। यह आशा क्या और कैसी है, इसकी चर्चा बाद में होगी।

आप हम सब आशा से परिचित हैं। आशा या बहिर्मुखी वृत्ति कितनी हम पर हावी है, उसका कितना हमारे मन पर अधिकार है, आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। अभी यहाँ मैं बैठा हूँ और मुझे लग रहा है कि आज दोपहर के भोजन में आमटी मिलेगी क्या? सोचा कि आमटी मिलेगी, तो भात भी खाना पड़ेगा। क्योंकि रोटी से आमटी खाने में उतना आनन्द नहीं आयेगा। तो अब आप ही सोचें कि कहाँ गया मैं ! कितनी हमारी आशा है ! यह मैं आपसे इसलिये निवेदन कर रहा हूँ कि हम थोड़ा-सा तो अपने विषय में सोचें कि इस बहिर्मुखी वृत्ति का कोई अन्त नहीं है। जैसे विशेषकर छोटे बच्चे बड़े बगीचे में या पार्क में खेलते रहते हैं, जहाँ आकाश और पृथ्वी का मिलन क्षितिज उन्हें स्पष्ट दिखता है। वे दौड़कर जाते हैं और सोचते हैं कि हम आकाश को छू लेंगे। उनको लगता है कि आकाश जमीन से जुड़ा हुआ है। कभी-कभी वे सोचते हैं कि हम लकड़ी से आकाश में छेद कर लेगें और एक लकड़ी उठाकर उसे छूने की कोशिश करते हैं। हम सब बहिर्मुखी वृत्तिवाले लोग आकाश को छूने और उसमें छेद करने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु ऐसा सम्भव है क्या? यदि सम्भव नहीं है, तो सबसे पहले हमें इस असम्भव को स्वीकार करना पड़ेगा। जीवन-निर्माण की प्रथम शर्त है स्वीकृति। मैं जो हूँ, उसकी स्वीकृति। मैं जो हूँ इसकी प्रथम स्वीकृति यह है कि मेरा मन बहिर्मुखी है, इसका मुझे ज्ञान होना चाहिये। यह तब तक नहीं होगा, जब तक हम इस बात पर थोड़ा-सा विचार न करें। यहाँ अधिकांश वयस्क बैठे हुये हैं। हम विचार करें कि बहिर्मुखी व्यक्तित्व के द्वारा, जहाँ-जहाँ हम गये, तो इतने वर्षों में कहाँ पहुँचे? आप बताइये? कुछ मित्र यहाँ बैठे हैं, जिनको मैं ४०-४५ सालों से जानता हूँ। उनके सुन्दर चमकते हुये चेहरे थे। सुन्दर बाल थे। काली दाढ़ियाँ थीं। मेरे एक मित्र बैठे हैं उनकी अभी सफेद दाढ़ी हो गयी। यहाँ से मुझे उनकी दाढ़ी दिख रही है, जो पहले बहुत सुन्दर काली हुआ करती थी। कहीं पहुँचे क्या? बहिर्मुखी वृत्ति ने हमें जहाँ भी ले जाकर खड़ा किया, वहाँ से पुनः दिखा दिया कि अभी बहुत कुछ पाना बाकी है। जैसे वहाँ पहुँचे, वह तुरन्त दूसरी उपलब्धि का प्रलोभन दिखा देती है और पूर्व की उपलब्धि बेस्वाद, नीरस हो जाती है। पर बहिर्मुखी वृत्ति आशा का दोष लिये हुये है। नीम की पत्ती सौ बार खायी, कड़वी लगी, किन्तु आशा कहती है, इस नीम के पेड़ की पत्ती कड़वी नहीं है, तुम और थोड़ा आगे बढ़कर चखकर देखो। १०० नीम के वृक्षों को पार किया, उनकी पत्तियाँ भी कड़वी थीं। किन्तु आशा कहती है कि १०१वाँ नीम का जो वृक्ष दीख रहा है, उसकी पत्ती कड़वी नहीं होगी। यह है आशा का चमत्कार !

इसलिये साधक और साधिका को सावधान हो जाना चाहिये। साधना का मूल यह है कि हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ेगा। साधक के साधना-जीवन का प्रारम्भ ही उस दिन होगा, जिस दिन वह अपने सम्बन्ध में दूसरों का नहीं, स्वयं के दृष्टिकोण में परिर्वतन करेगा। तभी इस जीवन में साधना प्रारम्भ हो सकती है। सभी महापुरुष कहते हैं, हमारे देश के ऋषि-मुनियों ने निश्चित रूप से कहा, अपनी दृष्टि बदलो, तो सृष्टि बदल जायेगी। हमें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ेगा। यह मूल सूत्र है। बहिर्मुखी वृत्ति को पहचाने बिना, दृष्टिकोण में परिर्वतन नहीं हो सकता है। दृष्टिकोण में परिवर्तन विचारों के द्वारा होता है और जब तक वृत्ति बहिर्मुखी है, तब तक हमारे विचार बहिर्मुख ही रहेंगे। कैसे बहिर्मुख होंगे? इसका मैं एक दृष्टान्त देता हूँ। **(क्रमशः)**

भय और दुर्बलता को मन से दूर फेंक दो। पाप की बात सोचकर मन को कभी भी निराश मत करना। पाप जितना भी बड़ा क्यों न हो, वह मनुष्य की ही दृष्टि में बड़ा है, भगवान की दृष्टि में वह कुछ भी नहीं है। उनके कृपाकटाक्ष से कोटि-कोटि जन्मों के पाप एक क्षण में कट सकते हैं।... भगवान का नाम लेने से देह-मन शुद्ध हो जाते हैं। उनके नाम में ऐसा विश्वास होना चाहिए – मुझे अब भय क्यों, मेरा अब बन्धन कहाँ ? उनका नाम लेकर मैं अब अमर हो गया हूँ, इस तरह विश्वास कर साधना करनी होगी।

– स्वामी ब्रह्मानन्द, 'ध्यान, धर्म तथा साधना'

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (१२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

अखण्डानन्द जी ने वहीं से ५ दिसम्बर (१८९०) को पुन: प्रमदा बाबू को लिखा – "महाशय को सहस्र प्रणाम, मैंने आपके पत्र का उत्तर लिखा था, उसके बाद आपका कोई समाचार नहीं मिला।... मेरे स्वास्थ्य में कोई विशेष उन्नति नहीं हो रही है। तथापि पहले की तुलना में थोड़ा अच्छा है। ऋषिकेश के लिये प्राण बड़े व्याकुल हैं। परन्तु जाना नहीं हो पा रहा है। अत: जाड़े भर नीचे के अंचल में ही रहना होगा। स्वामी शिवानन्द को मेरा पत्र मिला था क्या? वे लोग इस समय कहाँ हैं? जानने की इच्छा होती है। कृपा करके चण्डी (दुर्गासप्तशती) का एक गुटका, जैसा मेरे पास था, इस पते पर भेजेंगे। सबसे छोटा संस्करण भेजेंगे। इति। आप सभी मेरा प्रणाम लेंगे। – दास गंगाधर।"[५४]

अन्य गुरुभाइयों का मेरठ आगमन

मेरठ से लिखे हुए अखण्डानन्द जी के उपरोक्त पत्रों से पता चलता है कि दिसम्बर के प्रारम्भ तक अन्य गुरुभ्राता लोग ऋषिकेश में ही थे। वहाँ से हरिद्वार होते हुए सम्भवत: दिसम्बर के मध्य तक पाँचों गुरुभाई – स्वामीजी, ब्रह्मानन्द, सारदानन्द, तुरीयानन्द और कृपानन्द सहारनपुर पहुँचे। वहाँ उन लोगों ने श्रीयुत बंकूबिहारी चट्टोपाध्याय से भेंट की। उन्होंने बताया कि अखण्डानन्द जी मेरठ में रहकर स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं और स्वामीजी को भी वहीं जाकर थोड़े दिन रहने की सलाह दी। स्वामी ब्रह्मानन्द भी अखण्डानन्द जी से मिलने को विशेष उत्सुक थे। इन्हीं कारणों से यह टोली सहारनपुर से मेरठ के लिये रवाना हुई। इसके साथ ही स्वामीजी के हिमालय-प्रवास की योजना का पटाक्षेप हुआ।

सम्भवत: दिसम्बर का तीसरा सप्ताह था। मेरठ पहुँच कर सभी गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द को देखने डॉक्टर त्रैलोक्यनाथ घोष के घर गये। स्वामीजी का रोग से जर्जर शरीर देखकर अखण्डानन्द जी को भय हुआ। उन्होंने लिखा है, "स्वामीजी को इतना रुग्ण मैंने कभी नहीं देखा था। लगता था मानो वे एक छाया में परिणत हो गए थे। ऐसा प्रतीत हुआ था कि मानो वे तब भी ऋषिकेश के भीषण रोग से मुक्त नहीं हुए थे।" स्वामीजी भी डॉ. घोष के ही घर पर रहकर चिकित्सा कराने लगे; पन्द्रह दिन वहीं रहे। उद्‌बोधन कार्यालय द्वारा प्रकाशित 'विश्वपथिक विवेकानन्द' नामक बँगला ग्रन्थ (पृ. ५३९-५४३) में डॉ. घोष की पुत्री नृपबाला पाल तथा उनके दौहित्र गुरुदास कुमार की कुछ स्मृतियाँ प्रकाशित हैं। स्वामीजी तथा अखण्डानन्द जी के अतिरिक्त बाकी गुरुभाइयों ने यज्ञेश्वर बाबू (बाद में काशी के भारत-धर्म-महामण्डल के संस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द) के मकान में आश्रय लिया। करीब एक पखवारे के बाद अखण्डानन्द ने अपने को पूर्णत: स्वस्थ महसूस किया। पर स्वामीजी तब भी दवा का सेवन कर रहे थे। अखण्डानन्द स्वामीजी को साथ लेकर यज्ञेश्वर बाबू के एक मित्र के उद्यान में चले आये, ताकि वहाँ की खुली हवा में स्वामीजी शीघ्र स्वस्थ हो जायँ।[५५]

सेठजी के उस बगीचे में भी स्वामीजी की चिकित्सा चलती रही। भिक्षाटन तथा कठोर जीवन बिताने के कारण स्वामीजी का शरीर बिल्कुल टूट गया था। अत: मेरठ में दीर्घकाल तक रहने की जरूरत आ पड़ी थी और उस दौरान उनके स्वास्थ्य में काफी सुधार भी हुआ। कुछ दिनों बाद अन्य गुरुभ्रातागण भी यहीं चले आये। स्वामी अद्वैतानन्द भी भ्रमण करते हुए सहसा वहाँ आ पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के सात त्यागी शिष्यों के निरन्तर ध्यान-भजन, शास्त्रपाठ तथा विविध विषयों पर चर्चा से मेरठ का यह उद्यान मानो द्वितीय वराहनगर मठ में रूपान्तरित हुआ। वहाँ के उन्मुक्त वातावरण में स्वामीजी का शरीर क्रमश: स्वस्थ तथा सबल होने लगा। प्रतिदिन दोपहर के भोजन के बाद स्वामीजी सबको लेकर संस्कृत ग्रन्थों का पाठ तथा व्याख्या करते। इस प्रकार एक-एक कर 'मृच्छकटिकम्', 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्', 'कुमार-सम्भवम्', 'मेघदूत' और 'विष्णु-पुराण' का अध्ययन हुआ। अपराह्न में सभी लोग घूमने निकलते तथा स्थानीय परेड ग्राउंड में सैनिकों के विभिन्न प्रकार के खेल देखकर आनन्द लेते।

सेठजी के बगीचे में

तुरीयानन्द जी ने १९ दिसम्बर, १९१५ के अपने एक पत्र में मेरठ के इसी प्रवास के विषय में लिखा है, "उन दिनों स्वामीजी हम लोगों को 'जूते की सिलाई से चण्डीपाठ तक' अर्थात् हर तरह के कार्य की शिक्षा देते थे। एक ओर जहाँ वेदान्त, उपनिषद्, संस्कृत नाटकों का पाठ और व्याख्या करते, वहीं दूसरी ओर ... रसोई बनाना सिखाते। और भी कितना कुछ करते, इसका अनुमान लगा लेना ही यथेष्ट है। एक दिन की घटना सदा के लिए हृदय में अंकित है। ... एक दिन उन्होंने पुलाव बनाया था। ... वह इतना स्वादिष्ट बना था कि क्या कहूँ! 'बहुत अच्छा बना है' – कहने पर उन्होंने सब हमी लोगों को खिला दिया, स्वयं चखा तक नहीं। हम लोगों के अनुरोध पर वे बोले, 'मैंने यह सब बहुत खाया है – तुम लोगों के खाने से मुझे बहुत तृप्ति मिल रही है, सब खा लो।' देखो! घटना साधारण, किन्तु सदा के लिए हृदय में गुँथी हुई है।... कितने स्नेह के साथ सेवा, कितना प्रेम, कितनी बातें, कितना घूमना-फिरना, सब कुछ स्मृति-पटल पर झलमला रहे हैं।"[५६]

तुरीयानन्द जी ने एक बार बताया था, "जब हम लोग मेरठ में थे, तो एक बार स्वामीजी ने एक जन को खूब डाँटा था। वह दूसरों के दोषों पर खूब छींटाकसी किया करता था। स्वामीजी ने उससे कहा था, 'तुम क्यों लोगों के पीछे लगते हो? तुम उन्हें कुछ दे सकते हो, तो दे दो?' "[५७]

लाइब्रेरियन द्वारा परीक्षा लेना

सेठजी के उद्यान में रहनेवाले इन विद्वान् संन्यासियों की ख्याति पूरे नगर में फैल गयी। नगर के अनेक लोग प्रतिदिन संध्या को सत्संग तथा विविध विषयों पर चर्चा हेतु नियमित रूप से उद्यान में आने लगे। नगर के प्रसिद्ध वकील कालीपद बसु भी इन्हीं में से एक थे। वे स्वामीजी के असीम ज्ञान के बारे में जानकर उनके विशेष अनुरागी हो गये थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी तथा अखण्डानन्द जी को अपने घर में आमंत्रित करके उन्हें भोजन भी कराया था। इन विद्यानुरागी सज्जन के प्रयासों से मेरठ में 'लायला लाइब्रेरी' नाम से एक अच्छे ग्रन्थालय की स्थापना हुई थी। अपने मेरठ-प्रवास के दौरान स्वामीजी ने इस ग्रन्थालय का भरपूर उपयोग किया था।[९५] उन दिनों अखण्डानन्दजी विविध प्रकार से स्वामीजी की सेवा में लगे रहते थे। वे ग्रन्थालय जाकर स्वामीजी के लिए पुस्तकें ले आते और स्वयं भी खूब पढ़ते। स्वामीजी की इच्छानुसार वे प्रतिदिन सर जॉन लबॉक की ग्रन्थावली का एक-एक खण्ड ले आते और अगले दिन उसे लौटाकर अगला खण्ड ले आते। लाइब्रेरियन सोचते कि यह लोगों को भ्रमित करते हुए पढ़ने का दिखावा मात्र हो रहा है, क्योंकि ऐसे विचारप्रधान ग्रन्थ के एक-एक खण्ड को एक दिन में अध्ययन कर पाना उनकी दृष्टि में असम्भव था। एक दिन अखण्डानन्द जी के समक्ष उनकी शंका व्यक्त हो उठी थी। उनसे इस बात की सूचना पाकर एक दिन स्वामीजी स्वयं ग्रन्थालय में जा पहुँचे और ग्रन्थपाल से बोले, "महाशय, मैंने इन सारी पुस्तकों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। शंका हो, तो आप किसी भी खण्ड से कोई भी प्रश्न पूछ कर देख सकते हैं।" इस पर लाइब्रेरियन ने उनसे कई प्रश्न किये और उनके समुचित उत्तर पाकर समझ लिया कि उन्होंने भूल की थी। असम्भव-सी बात को भी सम्भव देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही ! बाद में अखण्डानन्दजी द्वारा इस विषय में पूछे जाने पर स्वामीजी ने बताया था, "मैं कभी किसी ग्रन्थ को शब्दश: नहीं पढ़ता; जैसे कि बहुरूपदर्शी में एक साथ ही अनेक रंगों के चित्र दीख पड़ते हैं, वैसे ही एक साथ ही पूरा वाक्य या यहाँ तक कि पूरा पैराग्राफ पढ़ लेता हूँ।"[५८]

काबुल के अमीर साहब

जब अखण्डानन्द जी तिब्बत से कश्मीर लौट रहे थे, तो मार्ग में उनका काबुल के अमीर अब्दुर रहमान के सम्बन्धी और अभिजात वर्ग के एक सरदार के साथ परिचय हुआ था। वे अपना देश छोड़कर भारत में शरणार्थी के रूप में निवास कर रहे थे। मेरठ में एक दिन अखण्डानन्द जी की उनसे पुन: भेंट हो गयी और वे उन्हें स्वामीजी से मिलाने को उसी उद्यान में ले आये। स्वामीजी के दर्शनार्थ आते समय उन्होंने हिन्दुओं की भाँति अपने हाथ-पैर धोये और स्वामीजी के लिए एक हिन्दू वाहक के हाथों फल-मिठाई आदि लेकर आए। स्वामीजी ने उनसे **स्वात** के सुप्रसिद्ध मुसलमान फकीर आमुद के बारे में सविस्तार चर्चा की। उस समय गुरुभाइयों को मिष्ठान्न खिलाकर अखण्डानन्द जी ने विशेष आनन्द तथा तृप्ति का अनुभव किया था।[५९]

मेरठ में वे लोग कितने दिन रहे

(नवरात्र के एक दिन पूर्व) १३ अक्तूबर १८९० को गुरुभ्रातागण राजपुर में तुरीयानन्द जी से मिले थे और सम्भवत: १५ अक्तूबर को देहरादून पहुँचे। देहरादून में वे लोग तीन सप्ताह अर्थात् लगभग ७ नवम्बर तक रहे।

अखण्डानन्द जी कदाचित् दिल्ली होते हुए ९-१० नवम्बर तक मेरठ पहुँचे। दीपावली १२-१३ नवम्बर के आसपास पड़ी होगी। १४ नवम्बर को उन्होंने मेरठ से पहला पत्र लिखा (शरणागति ओ सेवा, पृ. ६५)। डॉ. घोष के घर एक-डेढ़ महीने – दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह तक (स्मृतिकथा, पृ. ५८) फिर सेठजी के बगीचे में जनवरी के अन्त तक – कुल लगभग ढाई से तीन महीने वे मेरठ में रहे।

अखण्डानन्द जी ने ५ दिसम्बर को मेरठ से जो अन्तिम पत्र लिखा, उसमें गुरुभाइयों के आने का कोई उल्लेख नहीं है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लोग दिसम्बर के मध्य तक मेरठ पहुँचे। स्वामीजी दिसम्बर के अन्त तक डॉ. घोष के घर में रहे। १८९१ का करीब पूरा जनवरी माह मेरठ के 'सेठजी के बगीचे' में सब गुरुभाई एक साथ रहे। इस तरह स्वामीजी ने करीब डेढ़ माह मेरठ में बिताये।

इस प्रकार १८९० ई. के दिसम्बर के मध्य से १८९१ ई. की जनवरी के अन्त तक का लगभग डेढ़ महीनों का समय सात गुरुभाइयों ने मेरठ में स्वामीजी के संग में परम आनन्दपूर्वक बिताया। उन दिनों ऐसा प्रतीत होता था मानो वराहनगर मठ का ही एक नया संस्करण निर्मित हुआ हो।

अब तक स्वामीजी को पता चल चुका था कि विधाता की इच्छा है कि अब वे ध्यान तथा समाधि के जीवन को भविष्य के लिये स्थगित रखकर संसार तथा भारतवर्ष की उन्नयन के लिये अपने जीवन-कार्य में लग जायँ। मेरठ में ही जनवरी के अन्त में स्वामीजी ने संकल्प लिया कि अब से वे एकाकी ही भ्रमण करेंगे और वे गुरुभाइयों की माया तथा संग छोड़कर दिल्ली के लिये रवाना हो गये। (शेष भाग, पृ. ९४ पर)

मूल्य शिक्षा : वर्तमान की आवश्यकता

डॉ. पंकज लता
सहायक-प्राध्यापिका, गुरुगोविन्द सिंह कॉलेज ऑफ एजुकेशन, मुक्तसर, पंजाब

शिक्षा जीवन का एक प्रमुख अंग है। स्पष्ट रूप से मूल्यों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से शिक्षा कहाँ तक अभिप्रेरित है, यह प्रश्न हमारे मन में आता है। क्योंकि शिक्षण अभ्यास में मूल्यों का सम्मिश्रण है जिसके द्वारा शिक्षा अच्छे व बुरे में अन्तर कराना सिखाती है, इस निर्णय तक पहुँचाने वाले मूल्य विद्यालयों में परिलक्षित होते हैं। जीवन में जिन व्यवहृत मूल्यों हेतु प्रयत्न किया जाना चाहिये, वे सत्य, अहिंसा, दान, सहिष्णुता, सामाजिक-न्याय, विश्व-बन्धुत्व, नैतिकता, सौहार्द सदाचार इत्यादि हैं। उक्त मूल्य जीवन हेतु आवश्यक उपयोगी तथा शिक्षा के दृष्टिकोण से मूल्यवान हैं। इसके लिये हमें सार्थक प्रयत्न करने होंगे, जिससे मूल्य-शिक्षा न केवल सैद्धान्तिक, अपितु हमारे जीवन के व्यवहार का अभिन्न अंग बन जाये।

प्रस्तावना

शिक्षक व्यावसायिक सफलता हेतु सदैव एक उत्तम उपकरण के रूप में समाज के समक्ष रहा है, जिसे समाज में मूल्यों का आधार कहा जा सकता है। क्योंकि मूल्यों के आधार के रूप में समाज की समस्त आशायें, आदर्श, उद्देश्य व लक्ष्य तथा समस्त समीक्षित मूल्य शिक्षकों द्वारा ही शिक्षा के लक्ष्य व उद्देश्य के रूप में निर्धारित किये जाते हैं। मनुष्य किसी भी पद पर आसीन हो, चाहे वह प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति के रूप में राजनैतिक सर्वोच्चता लिये हो, आर्थिक रूप में विश्व के सर्वोच्च धनिकों में अपना नाम परिगणित करने वाला धनिक, अपनी प्रबन्धन क्षमता का परिचय दे रहा हो, सामाजिक रूप से चाहे डॉ. भीमराव अम्बेडकर इत्यादि सदृश सर्वोच्चता लिये हो, उसके पीछे इन मूल्यों को समाहित करने वाले सदैव शिक्षक रहे हैं। अत: एक उत्तम नागरिक बनने के साथ व्यावसायिक सफलता में महारथ हासिल करना बिना नैतिक मूल्यों को जीवन में उतारे सम्भव ही नहीं है। अत: हम कह सकते हैं कि उद्देश्य व लक्ष्यों का अन्त उनकी प्राप्ति से हो सकता है, किन्तु मूल्य सदैव उत्पादकता की श्रेणी में ही रहते हैं, वे निरन्तर निर्माणावस्था में ही रहते हैं और तत्सम्बन्धित व्यक्ति-विशेष को उचित दिशा प्रदान करते रहते हैं। इस प्रकार शैक्षिक मूल्य उस क्रिया से सम्बन्धित है, जो मनुष्यत्व हेतु उत्तम, उपयोगी तथा शैक्षिक दृष्टि से मूल्यवान हो।

भारतीय संस्कृति के मुख्य पोषक तत्त्वों में धर्म-दर्शन, कला-साहित्य, खान-पान, वस्त्र, समाज और वर्ण इत्यादि मुख्य रूप से परिगणित होते हैं। संस्कृति के ये पोषक तत्त्व नैतिकता से परिपूर्ण हैं। मानव को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करने का कार्य भारतीय संस्कृति का है। सत्य, अहिंसा, तप-त्याग, धर्म, रीति, नीति, ज्ञान, शमन, दमन इत्यादि ऐसे तत्त्व हैं, जो मानव को प्रेरणा देकर उसे जन-कल्याण के लिये प्रेरित करते हैं। नैतिक मूल्यों के कारण ही भारतीय संस्कृति को विश्व की सभी संस्कृतियों में उच्चतम स्थान प्राप्त है। नैतिकता द्वारा ही असुरत्व को मनुष्यत्व में, मनुष्यत्व को अमरत्व में परिवर्तित किया जा सकता है।

जैसा कि मनु ने कहा है –

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।।

अत: मानव की पतन से रक्षार्थ और सदगुणों की ओर प्रेरणार्थ मूल्य-शिक्षा अनिवार्य है। स्वार्थपरता, धन-लोलुपता इत्यादि दुर्गुणों से मनुष्य प्रत्येक कार्य हेतु छोटे-छोटे रास्तों को खोजता है। परिणामत: अन्याय, हिंसा, लालच, नशाखोरी और जमाखोरी आज के युवाओं में निरन्तर बढ़ती जा रहे है। युवावर्ग जैसे-जैसे शिक्षित होता जा रहा है, उस विशेष-वर्ग में इन सभी दुर्गुणों की ओर अग्रसर होने की सम्भावना अधिक हो जाती है। क्योंकि वर्तमान शिक्षा तकनीकी, प्रबन्धन इत्यादि अनेक वर्तमानकालिक तथ्यों की शिक्षा अवश्य देती है, किन्तु प्रारम्भिक स्तर से शिक्षा कहीं-न-कहीं मूल्य-शिक्षा से विहीन है। मूल्य-शिक्षा घर पर माता-पिता तक सीमित रह जाती है, जिनकी बातों पर बच्चे एक सीमा-विशेष तक ही ध्यान देते हैं। मूल्य शिक्षण का इस प्रकार परिहार आज के युवाओं में मुख्य नैतिक मूल्यों के अभाव को स्पष्ट प्रदर्शित करता है। कुछ मुख्य जीवन-मूल्य प्रस्तुत हैं –

१. सत्य और अहिंसा – सत्य और अहिंसा सभी मानवीय गुणों का आधार होने के कारण एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुये हैं। 'ऋग्वेद' में प्रयुक्त 'अध्वर' शब्द 'हिंसा रहित यज्ञ' अर्थ में प्राप्त होता है। अत: मनु के

अनुसार भी हिंसा न तो कायिक, वाचिक हो और न ही मानसिक। जैसे –

अहिंसयैव भूतानां कार्य श्रेयादनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा-श्लक्षणा प्रयोज्य धर्ममिच्छता।।

प्राचीनकाल के समान यदि आज की शिक्षा का अभिन्न अंग अहिंसा तथा सत्य होगा, तो शायद छोटी-छोटी माँगों को पूरा करने के लिए सरकार की करोड़ों की क्षति नहीं होगी। युवावर्ग अपनी माँगपूर्ति हेतु बसों, रेलों अथवा सामाजिक सम्पत्ति को नष्ट करने का प्रयास न कर, सत्य के मार्ग से अहिंसा को अपनाते हुए कार्यपूर्ति के उपायों हेतु प्रयत्न करेंगे।

२. दान – **'दानमेकं कलौयुगे'** दान की भावना के पीछे दूसरे के दुख को समझकर उसे दूर करने की भावना रही है। अत: दान सदैव सत्पात्र को देना चाहिए। अर्थात् 'प्राणी मात्र की भावना का ज्ञान' ही दान के सत्पात्र का अर्थ है। भारतीय संस्कृति में भी महापुरुषों ने दान की परम्परा द्वारा एक उत्तम मार्ग का निर्माण किया। क्योंकि तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का एक आधार दान भी था। प्रारम्भिक शिक्षा में दान स्वीकार करना तथा गुरुदक्षिणा के रूप में दान देने की भावना का विकास किया जाता था, जिससे विद्यार्थीगण प्रत्येक कार्य को हृदय से स्वीकार करें। चूँकि हमारी संस्कृति कर्मप्रधान बनने की शिक्षा देती है, तथापि किसी कारणवश, वह वर्ग जो जीवन-निर्वाह में असमर्थ है, जिससे समाज का ढाँचा असन्तुलित हो जायेगा, उन्हें सशक्त करने हेतु 'दान' रूपी उत्तम परम्परा का निर्वाह किया जाना चाहिये। जिससे मनुष्य में स्वार्थीपन, धन-लोलुपता इत्यादि दुश्चिन्ताओं का समावेश न होकर परोपकार, उत्तम स्वस्थ मानसिकता, सन्तोष, दया इत्यादि के भाव उत्पन्न हों तथा अन्तर्मन स्वच्छ हो।

३. सन्तोष – आज का मानव अपनी प्रज्ञा को खोकर धन, ऐश्वर्य के पीछे प्रमत्त सा दिखाई देता है। यदि उसका मासिक खर्च २०,००० है तथा आय ३०-४०,००० हो, तो भी उसमें सन्तुष्टि का भाव अदृश्य रहता है। वह अधिक-से-अधिक के चक्कर में पथ-भ्रष्टता की ओर दुर्योधन, धृतराष्ट्र, शकुनि इत्यादि के समान अग्रसर होता है।

आज की सर्वप्रमुख समस्या 'भ्रष्टाचार' है तथा भ्रष्टाचार के मूल में 'सन्तोष' अभिवृत्ति का अभाव है। 'भ्रष्टाचार' वे ही व्यक्ति करते हैं, जो पहले से ही उत्तम पद पर आसीन हैं तथा उत्तम मासिक आय प्राप्त कर रहे हैं। अब प्रश्न है कि उन्हें किस प्रकार की कमी है कि वे गरीब-से-गरीब व्यक्ति से भी धन की माँग करने से नहीं चूकते। निष्कर्ष एक ही है यदि उनमें प्राथमिक शिक्षा के समय से ही मूल्य-शिक्षा के रूप में 'सन्तोष वृत्ति' जैसे गुणों का विकास होता, तो ऐसा नहीं होता और आज भारत देश भी विकसित देशों की श्रेणी में होता।

इसी प्रकार सौहार्दता, सेवा-भावना, कर्म-प्रधानता, सामाजिक-न्याय, सदाचार, विश्व-बन्धुत्व की भावना, साम्प्रदायिक-सद्भाव नैतिक-विकास इत्यादि वे गुण हैं, जो 'मूल्य-शिक्षा' के अभिन्न अंग हैं। हम अपने समाज को अग्रसर होते हुए देखना चाहते हैं, किन्तु यदि हम समाज में फैली बुराईयों की ओर एक दृष्टिपात करें, तो स्पष्ट होगा कि इसका मूल कारण 'मूल्य- शिक्षा की अवहेलना' ही है।

कुछ वर्ष पूर्व तक की स्थिति को यदि देखें, तो स्पष्ट होगा कि 'मूल्य शिक्षा' अथवा 'नैतिक शिक्षा' नाम से विभिन्न राज्यों को बोर्ड में मूल्य-शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया था। जिनके लिये पूर्व में अंक तथा अनन्तर में ग्रेड की व्यवस्था की गई। परन्तु समयान्तर के साथ अनिवार्य मूल्य शिक्षा या नैतिक शिक्षा का स्थान पर्यावरण शिक्षा या कम्प्यूटर शिक्षा को दे दिया गया। आज यदि विभिन्न बोर्ड अथवा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को देखें, तो स्पष्ट है कि 'मूल्य शिक्षा' अथवा 'नैतिक शिक्षा' को कितना स्थान दिया गया है। किन्हीं विश्वविद्यालयों में यह वैकल्पिक विषय के रूप में रखा गया है। चूँकि यह विषय व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के रूप में उपलब्ध है, तो शायद ही कुछ प्रतिशत बच्चे इसे स्वीकार करते होंगे। व्यावसायिक स्तर पर विशेष रूप से बी.एड. इत्यादि में जब भविष्य के शिक्षकों हेतु मूल्य शिक्षा स्वीकार करनेवाले कुछ ही प्रतिशत छात्राध्यापक होते हैं, तो मूल्यों की रक्षा, मूल्यों का हस्तान्तरण और विकास सम्पूर्ण रूप से हम शिक्षक वर्ग पर कैसे सौंप सकते हैं? जबकि एक आदर्श शिक्षक की आवश्यकता प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक विषय हेतु है। ऐसा भी नहीं है कि पाठ्यक्रम में स्थान देने मात्र से मूल्यों का विकास सम्भव है, जबकि इसके लिये प्रयास भी उसी प्रकार होने चाहिए, जिस प्रकार हम आज कम्प्यूटर-शिक्षा व पर्यावरण-शिक्षा हेतु कर रहे हैं। यद्यपि कम्प्यूटर और पर्यावरण आदि की शिक्षा विश्व में अपना स्थान निर्धारित करने हेतु आवश्यक है, किन्तु साथ ही विश्वगुरु के जिस पद पर भारत आसीन था, उसे पुन: प्राप्त

करने हेतु सार्थक प्रयत्न करने आवश्यक हैं, जो मूल्य शिक्षा को पहले सैद्धान्तिक तथा फिर व्यावहारिक बनाने से ही सम्भव हो सकेगा। ○○○

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्य – डॉ. रतनलाल मिश्र, बालाजी प्रकाशन, जयपुर २. मूल्य शिक्षा के परिपेक्ष्य – डॉ. रामशुक्ल पाण्डेय, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ ३. शिविरा पत्रिका, राजस्थान शिक्षा विभाग **4. Peace Education :- Philosophical Principles as Pediology For Social Change A presentation by Mary Lee Morrison .**
5. www.google.co 6. www.educationplanet.com

एक सेठ था। दिल का उदार और दिल का राजा भी। उसके पास क्या नहीं था — कारें, बंगले और बड़ा कारोबार। वह एक आलीशान बंगले में रहता था। उस दिन वह एक सन्त को अपना बंगला दिखाने लाया। सन्त अलमस्त थे और सेठ अपने बड़प्पन की डींगे हाँकने में व्यस्त था। सन्त को उसकी हर बात में अहंकार की बू आ रही थी। सन्त ने उसकी 'मैं मैं' की महामारी मिटाने के उद्देश्य से दीवार पर टँगे मानचित्र को दिखाते हुए पूछा, 'इसमें तुम्हारा शहर कौन सा है?

सेठ ने मानचित्र पर एक बिन्दु पर उंगली टिकाई। सन्त ने विस्मय से पूछा, 'इतने बड़े मानचित्र पर तुम्हारा शहर बस इतना सा ही है! और क्या इस नक्शे में तुम अपना बंगला बता सकते हो?' उसने जवाब दिया, 'मेरा बंगला इस पर कहाँ दिखता है? वह तो ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर है।'

तो फिर अभिमान क्यों? सन्त ने पूछा। शर्मिंदगी के मारे सेठ का सिर नीचे झुक गया। उसने सोचा, जब इस नक्शे में उसका नामोनिशान तक नहीं है, तब वह क्यों अहंकार में इतना फूल रहा है?

प्रस्तुति : नवभारत टाइम्स से अमिताभ

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य
अनुवादक - स्वामी विदेहात्मानन्द

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः।।५४३।।

अन्वय – निर्धनः अपि सदा तुष्टः, असहायः अपि महाबलः, अभुञ्जानः अपि नित्यतृप्तः, असमः अपि समदर्शनः।

अर्थ – ब्रह्मज्ञ पुरुष निर्धन होते हुए भी सदा सन्तुष्ट रहता है, बिना किसी सहायक के भी महा-बलवान होता है, बिना भोग किये भी सदैव तृप्त रहता है और सबसे भिन्न होकर भी सबके प्रति समदृष्टि रखता है।

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः।।५४४।।

अन्वय – एषः कुर्वन् अपि अकुर्वाणः च फलभोगी अपि अभोक्ता, शरीरी अपि अशरीरी, परिच्छिन्नः अपि सर्वगः (अस्ति)।

अर्थ – वह (ब्रह्मज्ञ पुरुष) कर्म करते हुए भी निष्क्रिय रहता है, कर्मफलों का भोग करता हुआ भी अभोक्ता है, देह में रहता हुआ भी देहाभिमान से रहित है, देह द्वारा सीमाबद्ध रहकर भी सर्वव्यापी (सर्वत्र विद्यमान) है।

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ।।५४५।।

अन्वय – अशरीरं सदा सन्तं इमं ब्रह्मविदं क्वचित् प्रियाप्रिये च तथा एव शुभाशुभे न स्पृशतः।

अर्थ – सर्वदा देहात्मबोध रहित इस ब्रह्मज्ञानी पुरुष को कभी प्रिय-अप्रिय (सुख-दुख) और वैसे ही भला-बुरा (पुण्य-पाप) स्पर्श नहीं करते।

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः
सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च ।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः
कुतः शुभं वाऽप्यशुभं फलं वा ।।५४६।।

अन्वय – स्थूलादि-सम्बन्धवतः अभिमानिनः सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च, (तु) विध्वस्त-बन्धस्य सदात्मनः मुनेः शुभं वा अशुभं वा अपि फलं कुतः?

अर्थ – स्थूल (सूक्ष्म) देह आदि से सम्बन्ध रखनेवाले देहाभिमानी व्यक्ति के लिये ही सुख तथा दुख (रूपी फल देनेवाले), भले तथा बुरे कर्म होते हैं; परन्तु सदा आत्मस्वरूप में निमग्न रहनेवाले मुनि के द्वारा भले-बुरे कर्म और उनके (सुख-दुख रूपी) फल भी भला कैसे होंगे?

मातृप्रेम के साथ-साथ शिक्षा

प्रत्येक व्यक्ति का यदि बचपन देखा जाए, तो उसमें उसकी माँ का सबसे बड़ा योगदान होता है । माँ का प्रेम यदि बचपन में न मिले तो बचपन एक प्रकार से अधूरा हो जाता है । छोटे बच्चों के लिए उनकी माँ ही उनका सब कुछ है । संसार में जितने भी बड़े व्यक्ति हुए हैं, उनका जीवन देखें, तो वे अपनी माँ से बहुत प्रेम करते थे और उनकी आज्ञा का पालन करते थे । इसी मातृ-प्रेम की छोटी सी सत्य घटना यहाँ दी जा रही है ।

कोकण में एक पालगड़ नाम का गाँव है । एक छोटे से निर्धन परिवार में श्यामू, उसकी माँ, पिताजी, भाई और बहन रहते थे । श्यामू प्रतिदिन शाम को अपने मित्रों के साथ लुका-छिपी, आँख-मिचौनी, खो-खो इत्यादि खेल खेलता था । शाम को खेलने के बाद वह नहाता था । एक दिन सदैव की तरह वह खेलने के बाद घर लौटा । घर के आँगन में स्नान की शिला पर बैठा और माँ ने उसके शरीर को मलकर साफ कर दिया । बचे हुए पानी को श्यामू ने अपने ऊपर डाला और माँ को पुकारने लगा, 'माँ, मेरा शरीर पोंछ दे ! पानी समाप्त हो गया है । मुझे ठण्ड लग रही है, जल्दी से शरीर पोंछ दे ।' उस समय गाँव में तौलिया अथवा अंगोछे आदि का विशेष उपयोग न था । घर के वयस्क लोग धोती का ही एक सिरा निचोड़कर उससे शरीर पोंछ लेते थे । छोटे बच्चों को स्नान कराने के बाद एकाध पुराने कपड़े से उनका शरीर पोंछ दिया जाता था । किन्तु श्यामू की माँ अपनी साड़ी के आँचल से ही श्यामू का शरीर पोंछ देती थी ।

श्यामू का आवाज सुनकर माँ आयी और अपनी साड़ी के आँचल से उसका शरीर पोंछकर बोली, 'जाओ, जल्दी से जाकर देवता पर सुबह चढ़ाये गये फूलों को हटा दो ।' श्यामू ने कहा, 'मेरे पैर के तलवे अभी गीले हैं, बाहर जाने से मिट्टी लग जाएगी । पहले मेरे पैर के तलवों को तो पोंछो !'

यह सुनकर श्यामू की माँ ने ऊँचे स्वर में कहा, 'पाँव के तलवे गीले होने से क्या हुआ? अब तुम्हारे तलवे मैं किससे पोंछूँ?' श्यामू ने कहा, 'तुम्हारी साड़ी का आँचल नीचे इस पत्थर पर फैला दो, उस पर अपने पैर रखकर पोंछ लूँगा । गीले पैरों पर मिट्टी लगने से मुझे अच्छा नहीं लगता । माँ, जल्दी अपनी साड़ी का पल्लू नीचे फैलाओ ना!' इस प्रकार श्यामू हठ करने लगा । माँ ने चिढ़कर कहा , 'श्यामू तू बड़ा हठी है ! न जाने कहाँ से रोज नयी-नयी बातें सीखकर आता है । लो, पोंछ अपने पाँव और जल्दी से घर के अन्दर जा ।' । ऐसा कहकर माँ ने अपना आँचल पसार दिया । श्यामू ने अच्छी तरह अपने पैर के तलवे साफ किये और कूदकर घर के भीतर चला गया । श्यामू की इच्छा पूरी करने के लिए माँ को अपनी साड़ी खराब करनी पड़ी ।

घर जाकर श्यामू ने देवता के फूल उठाकर नीचे रखे । इतने में उसकी माँ आरती लेकर आयी और कहने लगी, 'श्यामू ! तू पाँव में मिट्टी न लगे, इसके लिए कितनी सावधानी रखता है । ऐसे ही सावधानी रखना, जिससे तुम्हारे मन में कोई मैल न आने पाए और इसके लिए देवता से प्रार्थना करना कि वे तुम्हे शुद्ध बुद्धि दें ।' श्यामू को माँ की बात समझ में आ गई । ○○○

डॉ. श्रीप्रसाद जी की दो कविताएँ

सूरज आया

चीं चीं चीं चिड़ियों ने गाया,
देखो सूरज आया;
जागो, जागो, आलस त्यागो,
फूल फूल मुस्काया ।।
फैल गई पूरब में लाली,
उतरीं किरणें प्यारी ।
धीरे-धीरे लगीं सजाने,
सुन्दर धरती सारी ।

पढ़ाई

कुत्ता जब कुछ पढ़ा रहा था
बिल्ली बोली 'म्याऊँ'!
भूख लगी है छुट्टी दे दो
दो चूहे खा आऊँ ।
'बैठ और पढ़', कुत्ता बोला
'और खतम कर काम
तब फिर गणित लगाकर लेना,
तू छुट्टी का नाम ।'

युवकों की जिज्ञासा और उसका समाधान

१५. मनुष्य से क्या तात्पर्य है? – अंकुर जयसवाल, शिशुमन्दिर, अंबिकापुर

जहाँ तक मनुष्य के जन्म लेने का प्रश्न है वह मनुष्येतर प्राणियों के समान ही जन्म लेता और मरता है। केवल शारीरिक दृष्टि से मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणियों में कोई अधिक भेद नहीं है। आचार्यों ने कहा भी है –

आहार निद्राभय मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो
धर्मेणहीना पशुभिः समाना।।

अर्थात् भोजन, निद्रा, भय सन्तान उत्पन्न करने आदि क्रियाओं में मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं है। धर्म ही उनमें विशेष है। धर्महीन मनुष्य पशु के समान है। हमारे आचार्यों के अनुसार मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में कोई अधिक भेद नहीं है, किन्तु धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य को पशु से भिन्न एवं श्रेष्ठ बनाता है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह अपनी अन्तर एवं बाह्य परिस्थिति पर विचार कर यथासमय अपने कर्त्तव्यों का यथोचित निर्णय लेकर पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है, जो मनुष्येतर प्राणी नहीं कर पाते। मनुष्य यदि चाहे तो, इसी जीवन में प्रकृति के दासत्व से मुक्त होकर अपने परमार्थ स्वरूप का अनुभव कर सकता है।

१६. व्यक्तित्व निर्माण कैसे किया जा सकता है? – अंकुर जयसवाल, शिशुमन्दिर, अंबिकापुर

व्यक्ति-निर्माण का मूल आधार है पूर्ण स्वाधीनता। मनुष्य जब पूर्णतः अन्तर एवं बाह्य प्रकृतियों की दासता से मुक्त होकर अपनी उन्नति के लिये उनका सदुपयोग करता है, तभी वह वास्तव में पूर्ण मनुष्यत्व को उपलब्ध होता है। यही व्यक्तित्व का चरम विकास कहा जाता है।

१७. सामाजिक व्यवस्था में स्वामी विवेकानन्द ने क्या सुधार किया, जिसका दूरगामी परिणाम आज दिखाई दे रहा है? – अवधेश शर्मा, अम्बिकापुर

यह प्रश्न ही अपूर्ण एवं उथला है। सामाजिक व्यवस्था बहुआयामी होती है, उसमें अच्छे-बुरे दोनों आयाम सम्मिलित होते हैं, सामान्य स्थिति में समाज के दोषपूर्ण एवं अनुचित आयामों को दूर कर व्यक्तित्व के परम विकास की ओर ले जाने वाले आयामों एवं कार्यों को करने पर ही व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है।

उपरोक्त विचार समाज के चरम विकास के मूल तत्त्व हैं। स्वामी विवेकानन्द ने नैतिकता एवं धर्म को भी समाज के समुचित एवं पूर्ण विकास के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।

समाज अपने प्रत्येक सदस्य (स्त्री-पुरुष) की क्षमता के अनुसार अपने व्यक्तिगत जीवन के विकास का ऐसा अवसर प्रदान करे, जो दूसरे व्यक्ति के हित का हनन किसी भी रूप में न करता हो।

व्यक्ति और समाज की व्यवस्था उनके विचारों द्वारा होती है। स्वामीजी ने एक अत्यन्त श्रेष्ठ, सन्तुलित एवं व्यावहारिक विचार हम सबको समाज के सर्वांगीण विकास के लिये दिया है।

हम धरती के लाल
शील

देश हमारा धरती अपनी हम धरती के लाल।
नया संसार बसायेंगे नया इन्सान बनायेंगे।।
सौ-सौ स्वर्ग उतर आयेंगे, सूरज सोना बरसायेंगे,
दूध पूत के लिये पहनकर, जीवन की जयमाल।
रोज त्योहार मनायेंगे, नया संसार बसायेंगे।।
सुख स्वप्नों के स्वर गूँजेंगे, मानव की मेहनत पूँजेंगे,
नई चेतना, नये विचारों की हम लिये मशाल।
समय को राह सिखायेंगे, नया संसार बसायेंगे।।
एक करेंगे मनुष्यता को, सींचेंगे ममता समता को,
नई पौध के लिये बदल देंगे, तारों की चाल।
नया भूगोल बनायेंगे, नया संसार बसायेंगे।।

(देश-प्रेरणा गीत, डॉ. एस. एन. सुब्बा राव से साभार गृहीत)

भारत की सांस्कृतिक यात्रा : रुद्र से शिव तक

शिवरात्रि विशेष

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रत्येक संस्कृति असंख्य दीर्घकालीन अनुभवों, संस्कारों, अवधारणाओं और आदर्शों का एक समन्वित समाहार होती है जिसके निर्माण में शताब्दियाँ लग जाती हैं। संस्कृति के दो पार्श्व होते हैं, एक जो शाश्वत और स्थिर है, दूसरा जो गतिशील या विकासमान है। संस्कृति का शाश्वत रूप वे जीवन-मूल्य या सिद्धान्त हैं, जो उसका आधार होते हैं और उसके स्वभाव या प्रकृति का निर्धारण करते हैं, इनका क्षरण होने पर संस्कृति अपनी पहचान, अपनी निजता खोने लगती है। संस्कृति का गतिशील रूप देश-काल के परिवर्तित सन्दर्भों में अनुपयोगी या अप्रासंगिक हुए तत्त्वों को छोड़ता हुआ या फिर उन्हें संशोधित करता हुआ आगे बढ़ता है और नये-नये तत्त्वों का संग्रहण करता हुआ उस संस्कृति को समय-सापेक्ष बनाये रखता है। जिस संस्कृति में आत्मसंशोधन की क्षमता जितनी अधिक होती है, वह उतनी ही दीर्घजीवी होती है। भारतीय शब्दावली में संस्कृति के ये दोनों पक्ष 'सत्य' और 'ऋत' कहलाते हैं। सत्य शाश्वत और देशकालनिरपेक्ष है और 'ऋत' गतिशील और देशकालसापेक्ष है। इन दोनों का समन्वित रूप ही संस्कृति है।

आगे बढ़ने के क्रम में कोई भी संस्कृति ठीक वैसी नहीं रहती, जैसी वह अपनी शैशवावस्था में थी। आत्मा वही रहने पर भी कलेवर बदलता है, दृष्टिकोण बदलता है और चिन्तन में परिपक्वता आती है। इस प्रक्रिया के कारण अवधारणाओं, प्रतीकों और प्रतिमानों में परिवर्तन आता है। जीवन की यात्रा, चाहे वह व्यक्ति की हो या संस्कृति की, सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। उसका चिन्तन मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ता है और क्रमशः जीवन के स्थूल पक्षों का अतिक्रमण कर उदात्त और लोकोत्तर के क्षेत्र में प्रवेश करता है। संसार की सभी श्रेष्ठ संस्कृतियों में विकास का यह क्रम देखा जा सकता है। यह विकास जीवन के सभी स्तरों पर और चेतना की सभी भूमियों पर होता है और किसी संस्कृति के मूल्यबोध, सौन्दर्यबोध और अन्ततः आत्मबोध में परिलक्षित होता है।

स्वाभाविक है कि संस्कृतिविशेष के वातावरण में पोषित होने वाले मानवसमूह के जीवन के सभी पक्षों पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़े और उसकी सामाजिकता, उसका आचार-विचार, उसकी धार्मिक मान्यताएं इन परिवर्तनों को आत्मसात् करें। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, उसकी वह सबसे बड़ी विशेषता जो उसे अन्य संस्कृतियों से अलग करती है, यह है कि धर्म उसका एक आनुषंगिक भाग या खान-पान की तरह उसके अनेक पार्श्वों में से एक नहीं है, अपितु धर्म एक ऐसी विराट संकल्पना है, जो भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व है और उसके सभी पक्षों को प्रभावित करता है।

भारतीय मनीषा ने मानव के सर्वतोमुखी विकास की जो प्रस्तावना की है, जीवन के लौकिक और लोकोत्तर क्षेत्र में मनुष्य की सर्वोच्च सम्भावनाओं के प्रतिफलन का जो साधन निश्चित किया है, वही धर्म की वास्तविकता है। यह धर्म कोई सम्प्रदाय, कोई पूजा-पद्धति, किसी व्यक्ति या पुस्तक को आस्था के केन्द्र में रखकर चलने वाला कोई विशिष्ट मतवाद नहीं है, अपितु उस दिव्य और सर्वव्यापक चेतना के आह्वान और अभिज्ञान का उपाय है, जो विश्व के कण-कण में व्याप्त है, एक है और अद्वितीय है। प्राणिमात्र में, जड़ में, चेतन में, सृष्टि के कण-कण में इसका साक्षात्कार ही धर्म का उद्देश्य है, मानव जीवन की सार्थकता है और विश्व के कल्याण और पारस्परिक सद्भाव का मूल मंत्र है।

स्पष्ट है कि इस विराट् संकल्पना ने एक दिन में आकार नहीं लिया। मानव-मन का यह संस्कार, दृष्टि का यह विस्तार और विचार की यह परिपक्वता शताब्दियों में घटित हुई। हमारी धार्मिक चेतना के विकास के कई चरण हैं, जिनमें इसकी अवधारणाओं की व्याख्या और पुनर्व्याख्या हुई, प्रतीकों का उदात्तीकरण हुआ, उनके अर्थ बदले, उपासना की रीति बदली और आराध्य देवताओं के स्वरूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। किस प्रकार दृष्टि बदलने से विषय-वस्तु के सन्दर्भ और अर्थ बदल जाते हैं, इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण वैदिक

देवता रुद्र का स्वरूप है, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति की ऊर्ध्वगामी चेतना की ओर दिङ्निर्देश करना इस आलेख का प्रयोजन है।

रुद्र और उनके पौराणिक अवतार भगवान् शिव के व्यक्तित्व में इतना अन्तर है कि दोनों के बीच कोई सम्बन्ध है, इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता। किस प्रकार रुद्र शिव के रूप में परिवर्तित हुए, इसे समझने के लिये प्रारम्भिक वैदिक धर्म के स्वरूप पर थोड़ा दृष्टिपात करना होगा। संस्कृति के उषा-काल में प्रकृति के प्रांगण में आँख खोलने वाले मानव के लिये प्रकृति एक रहस्यमयी वस्तु थी; किसी स्पष्ट अवधारणा और जटिल कर्मकाण्ड से मुक्त एक शिशुसुलभ जिज्ञासा थी, जिसने जीवनदायिनी प्रकृति और मनुष्य के बीच एक सम्बन्ध का निर्माण किया। प्रकृति के रमणीय और सौम्य रूप मनुष्य के हृदय को आनन्द और सान्त्वना देते थे, तो उसके भयंकर रूप उसे भयभीत भी करते थे। प्रकृति की अदम्य शक्तियाँ उसके हृदय में भय और कौतूहल से मिश्रित आदरभाव उत्पन्न करती थीं। धीरे-धीरे इन शक्तियों ने उसके मानस में एक पूज्य-भाव ग्रहण कर लिया। उसने प्राकृतिक घटनाओं से उनका संचालन करने वाली, उनका नियमन करने वाली दिव्य या अतिमानवीय शक्तियों का अनुमान किया और उन्हें प्रसन्न करने के लिये स्तुतियों की रचना की। वैदिक धर्म का यही आरम्भ था। कालान्तर में इस धर्म ने एक निश्चित स्वरूप ग्रहण किया और क्रमश: विकसित और परिवर्द्धित होते हुए, अपनी स्थूल प्रवृत्तियों का अतिक्रमण करते हुए एक विराट् आध्यात्मिक क्रान्ति का रूप लिया।

वैदिक काल के सभी देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का मानवीकरण हैं और सभी का कुछ-न-कुछ भौतिक आधार है। पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं का एक विशाल देवसमूह अस्तित्व में आया, किन्तु कालान्तर में इनका प्रभुत्व घटता-बढ़ता रहा। वैदिक संस्कृति के प्रारम्भ में जो देवता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे, पुराणकाल तक आते-आते उनमें से अनेक विस्मृत-से हो गये। किन्हीं का किसी अन्य देवता के साथ स्वरूपैक्य हो गया, कुछ किसी एक देवता के ही विविध रूप मान लिये गये, तो कुछ अपने प्राचीन गरिमामय स्वरूप का फीका सा प्रतिबिम्ब बनकर रह गये। उदाहरण के लिये इन्द्र और वरुण जो वैदिक देव-पटल के भास्वर नक्षत्र थे, पुराणकाल में महत्त्वहीन-से हो गये और इन्द्र का तो बहुत अधिक अवमूल्यन हो गया। तीन देवता जो वैदिक काल से पुराणकाल तक अपना प्रभाव बनाये रख सके और जो आज भी हिन्दूधर्म के सर्वमान्य देवता हैं, वे हैं सूर्य, विष्णु और रुद्र जो अब भगवान् शिव महादेव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के रूप में प्रजापति भी वर्तमान हैं किन्तु पहले का सा गौरव नहीं है।

ऋग्वेद में रुद्र का अप्रधान-सा ही स्थान है। केवल तीन सम्पूर्ण सूक्तों में और अंशत: दो अन्य सूक्तों में इनकी प्रख्याति है। 'रुद्र' की व्युत्पत्ति अनिश्चित सी है। भारतीय विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति 'रुद्' धातु से स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ 'क्रन्दन करना' है। रुद्र एक भयंकर देवता हैं, सम्भवतः लोग इनके भय से क्रन्दन करते हैं, या क्रन्दन शब्द यहाँ ध्वनि-सामान्य के अर्थ में है, और इसका तात्पर्य इस देवता के गर्जन से है। ग्रासमैन इस शब्द की निष्पत्ति 'रुद्र' धातु से करते हैं जिसका अर्थ 'चमकना' है। पिशल इसका अर्थ 'अरुणिम होना' मानते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रुद्र' का अर्थ हुआ जो 'देदीप्यमान' या 'लोहितवर्णी' हो।

मैक्डॉनैल अपनी पुस्तक 'वैदिक माइथोलॉजी' में लिखते हैं कि रुद्र को सामान्यत: झंझावात का देवता माना गया है, किन्तु इनका क्षेप्यास्त्र दुर्भावनारूप से प्रयुक्त होता है, जबकि इन्द्र का अस्त्र उनके स्तोताओं की रक्षा के लिये उनके शत्रुओं पर ही लक्षित होता है। अत: प्रतीत होता है कि रुद्र विशुद्धरूप से झंझावात के नहीं, अपितु विद्युत् के माध्यम से उसके हानिकर पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं (द्रष्टव्य वैदिक माइथोलॉजी-हिन्दी अनु. पृ.१४५)। इस देवता के भौतिक आधार के विषय में बड़ा मतभेद है। मैक्डॉनैल अपनी पुस्तक में अनेक मतों की चर्चा करते हैं। वेबर के मतानुसार प्राचीनतम काल में यह देव विशेषरूप से झंझावात के भीषण रव का व्यञ्जक था। विलसन का विचार है कि रुद्र या तो अग्नि या वर्षा के स्वामी इन्द्र का ही एक रूप था। श्रोडर रुद्र को मूलतः मृतक-आत्माओं का प्रधान मानते हैं, जिसकी वायु के प्रबल वेग के

समान गतिशील होने की कल्पना की गई है। ओल्डेनबर्ग का विचार है कि रुद्र सम्भवत: पर्वत और वन के एक देवता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जहाँ से व्याधियों के बाण मानव समाज पर आक्रमण करते हैं। (द्रष्टव्य वैदिक माइथोलॉजी-हिन्दी अनु. पृ.१४५-४६)।

इन बातों से यह तो स्पष्ट ही है कि रुद्र प्रकृति की एक प्रचण्ड और विनाशकारी शक्ति का प्रतीक हैं। ये झंझावात या प्रभञ्जन के देवता हैं, जो अपनी प्रबलता से सब कुछ नष्ट और तहस-नहस कर देता है। ऋषि इनसे यही प्रार्थना करते हैं कि आपके क्रोध से हमारी रक्षा हो, यहाँ तक कि इनके स्तोता-भक्त भी इनसे यही याचना करते हैं कि आपका अस्त्र हमें छोड़ दे अर्थात् हमारी हिंसा न करे। दीप्तिमान रुद्र की दुःख देने वाली महती बुद्धि हमें छोड़कर दूसरी जगह चली जावे। हे सुखों का सेचन करने में समर्थ रुद्र ! अपने दृढ़ धनुषों को हविरूपी धन से सम्पन्न यजमानों के प्रति विस्तृत मत करो। हमारे पुत्रों और पुत्रों के पुत्रों को सुखी करो' –

'परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ। (ऋ.२-३३-१४)

इनको समर्पित अधिकांश स्तुतियों में इनके क्रोध के शमन की प्रार्थना की गई है – 'हे रुद्र ! हम तुमको अनुचित प्रकार से किये गये नमस्कारों से क्रोधित न करें। कामनाओं की वर्षा करने वाले हे रुद्र ! हम दुष्ट (बुरी) स्तुतियों द्वारा तुम्हें क्रुद्ध न करें और अन्य छोटे देवताओं के साथ तुम्हारा आवाहन कर तुम्हें कुपित न करें' – **'मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।** (ऋ. २-३३-४)

ऋग्वेद में रुद्र के चरित्र में प्राय: क्रोध और मात्सर्य को आरोपित किया गया है। इनका व्यक्तित्व भयप्रद है; इन्हें नित्ययुवा, सिंह के समान भयंकर, शत्रुओं को मारने वाला तथा उग्र स्वरूप वाला कहा गया है – **'स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।'** (ऋ २-३३.११)

ऋग्वेद में इनके आयुधों का अनेकश: वर्णन है। इन्हें हाथों में वज्र धारण किये हुए कहा गया है। अपने ऐश्वर्य के कारण ये सबसे श्रेष्ठ हैं तथा सर्वाधिक बलशाली हैं – **श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।** (ऋ २.३३.३)।

आकाश से प्रक्षिप्त इनका विद्युत् शर पृथ्वी को भेद देता है (ऋ ७.४६.३); इन्हें धनुष और ऐसे बाणों से सुसज्जित बताया गया है, जो शक्तिशाली और तीव्रगामी हैं (ऋ. २.३३.१०,११; ७.४६.१)। निश्चय ही ये बाण आकाशीय बिजली का प्रतीक हैं, जो पृथ्वी पर गिरकर सब कुछ जला डालते हैं। प्रभञ्जन के साथ वर्षा भी अवश्य होती है; ऋषि कहते हैं कि रुद्र पृथिवी पर जलधाराओं को प्रवाहित करते हैं और गर्जन करते हुए सभी वस्तुओं को आर्द्र करते हैं –

प्र रुद्रेण ययिना यन्ति
सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो
वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते।। (ऋ १०.९२.५)

ऋग्वेद में जिस बात का अनेक बार उल्लेख हुआ है, वह है रुद्र का मरुद्गण से सम्बन्ध। मरुत् अर्थात् वायु; ये संख्या में अनेक हैं। परवर्तीकाल में भी पुराणों में उनचास पवनों का उल्लेख है। रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है – **'आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु'** (ऋ २.३३.१)। ये मरुत् नामक देवता से युक्त हैं अत: इन्हें 'मरुत्वान्' (ऋ २.३३.६) कहा गया है। रुद्र का पुत्र होने के कारण मरुद्गण को अनेक बार 'रुद्र' या रुद्रिय' कहकर सम्बोधित किया गया है।

अन्य एक महत्त्वपूर्ण देवता जिनके साथ रुद्र का सम्बन्ध है, वह है अग्नि (ऋ २.१.६)। अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में भी इन्हें अग्नि के साथ समीकृत किया गया है। कहीं-कहीं 'रुद्र' शब्द अग्नि के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त है। अन्यत्र अग्नि के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्त करने वाले नाम – रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव और महान् देव: बतलाये गये हैं। इनमें से अधिकांश नामों का प्रयोग आज भगवान शिव के लिये होता है। स्पष्टत: प्रबल वायु, वर्षा, मेघगर्जन और आकाश में चमकती भयप्रद विद्युत-राशि के साथ रुद्र का व्यक्तित्व एक ऋषि-कल्पित देव-रूपक है, जो वैदिक धर्म की उस प्रवृत्ति का परिचायक है, जो सृष्टि के प्रत्येक क्रिया-कलाप के पीछे एक अतीन्द्रिय दिव्य चेतना का साक्षात्कार करने लगी है।

वैदिक ऋषि प्रकृति के इस प्रचण्ड और विनाशकारी रूप के प्रतीक रुद्र के मंगलकारी पक्ष से अपरिचित हैं, ऐसा भी नहीं है। मैकडॉनैल की दृष्टि में झंझावात के द्वारा वातावरण का जो शुद्धीकरण और भूमि का जो उर्वरीकरण होता है, सम्भवत: वही रुद्र की मंगलकारी शक्तियों की भूमिका है। ऋग्वेद में इनके लिये 'बुद्धिमान' (१.४३.१), 'मेधावी' (१.११४.४) और 'उदार' (२.३३.७) विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इन्हें अनेक बार उपकारी – 'मीढ्वस्' (ऋ.२.३३.१४,

१.११४.२) कहा गया है और परवर्ती वैदिक साहित्य में 'मीढ्वस्' शब्द के तुलनात्मक और अतिशयवाचक रूप केवल रुद्र के सन्दर्भ में ही मिलते हैं (मैक्डॉनैल-वैदिक माइथोलॉजी पृ. १४२)। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में कहा गया है कि इनका सरलता से आवाहन किया जा सकता है –'सुहव:' (ऋ २.३३.६) और ये कल्याणकारी देवता 'शिव' हैं –

'स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्कसे
क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभि: शिव: स्ववाँ एवयावभिर्दिव:
सिषक्ति स्वयशा निकामभि: ।। (ऋ १०.९२.९)

अथर्ववेद के समय तक इस 'शिव' उपाधि का प्रयोग अन्य किसी देवता के लिये नहीं किया गया।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के तैंतीसवें सूक्त में इनके लिये अनेक बार 'वृषभ' शब्द का प्रयोग हुआ है (२.३३.४,७,८,१५), जहाँ इसका अर्थ 'कामनाओं की वर्षा करने वाला' किया गया है।

वैदिक रुद्र की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि ये एक श्रेष्ठ चिकित्सक हैं। व्याधियों का उपशमन करने की इनकी शक्ति का अनेक बार उल्लेख किया गया है। ये उपचार प्रदान करते हैं – **भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मै'** (ऋ.२.३३.१२)। विशिष्ट उपचार ये अपने हाथ में लेकर चलते हैं – **'हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्'** (ऋ१.११४.५)। इनका हाथ रोगों का शमन करने वाला और वृद्धि प्रदान करने वाला है। ऋषि कहते हैं – 'हे रुद्र, आपका सुख देने वाला वह हाथ कहाँ है, जो चिकित्सा करने वाला और सुखदायी है। इस हाथ से आप मेरी रक्षा करें। कामनाओं की वर्षा करने वाले हे रुद्र ! इन्द्रियों द्वारा किये गये पापों को नष्ट करने वाले आप मुझे शीघ्र ही क्षमा प्रदान करें –

'क्व १स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष: ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथा: ।
(ऋ २.३३.७)

रुद्र अपने उपचारों से योद्धाओं को स्वस्थ करते हैं, क्योंकि ये चिकित्सकों में सर्वश्रेष्ठ हैं – **भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि'** (ऋ २.३३.४) और इनके उपचारों से इनके स्तोता सौ शीत ऋतुओं तक जीवित रहने की आशा करते हैं – **'त्वादत्तेभी रुद्र शतंमेभि: शतं हिमा अशीय भेषजेभि:'** (ऋ २.३३.२)। इस सन्दर्भ में रुद्र को दो विशिष्ट उपाधियों से विभूषित किया गया है, जिनका प्रयोग केवल इनके लिये ही हुआ है; वे उपाधियाँ हैं 'जलाष' (ऋ २.३३.७) और 'जलाषभेषज' – **'रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्'** (अथर्व २.२७.६)। 'जलाष' और 'जलाषभेषज' का अर्थ सम्भवत: उपशमन करने वाला और उपशामक ओषधियों से युक्त है। मैक्डॉनेल के अनुसार व्याधियों को दूर करने वाली ये ओषधियाँ सम्भवत: वर्षा ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्षाकाल में उत्पन्न होने से वनस्पतिरूप ये ओषधियाँ रुद्र से सम्पृक्त की गईं।

रुद्र देवता की इन स्वभावगत विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् अब उनके व्यक्तित्व की अवधारणा पर दृष्टिपात करना उचित होगा। रुद्र नित्य-तरुण और उग्र स्वरूप वाले हैं (ऋ २.३३.११); ये अत्यन्त तेजस्वी (ऋ १.११४.५) शक्तिशाली –'ओजीय:' (ऋ २.३३.१०) और सभी बलशालियों से बलशाली हैं – **तवसां तवस्तम:** (ऋ २.३३.३)। ये कोमल उदर वाले 'ऋदूदर:' तथा सुन्दर चिबुक वाले हैं – 'सुशिप्र:' (२.३३.३)। ये चमचमाते हुए स्वर्णालंकारों से दीप्तिमान हैं तथा नानाप्रकार के सुवर्णहार 'निष्क' धारण करते हैं (२.३३.९,१०)। रुद्र को 'कपर्दी' कहा गया है अर्थात् ये वेणीयुक्त केश धारण करते हैं। इन्हें रथ पर आसीन कहा गया है – (२.३३.११)। रुद्र को कभी लाल, कभी नीलवर्णी तो कभी श्वेत वर्ण का कहा गया है। पाश्चात्त्य विद्वान पिशेल के अनुसार 'रुद्र' शब्द का अर्थ ही 'अरुणिम' अर्थात् लाल आभा वाला है। ऋग्वेद में इन्हें आकाश का अरुणवर्णी (अरुषं) वराह कहा गया है – **'दिवो वराहमरुषं** (१.११४.५) अथर्ववेद में कहा गया है कि इनका उदर नीलवर्ण और पृष्ठ भाग रक्तवर्ण है – **'नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्'** (अथर्व १५.१.७)। वाजसनेयिसंहिता में इन्हें नीली ग्रीवा वाला कहा गया है –**'असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहित:'** (१६.७); इसी पंक्ति में इन्हें 'विलोहित' अर्थात् ताम्रवर्णी भी कहा गया है। रुद्र को अनेक स्थानों पर 'बभ्रुवर्ण' का कहा गया है (ऋ २.३३.६, ८); बभ्रु का तात्पर्य भूरे या ताम्रवर्ण से है। बभ्रु का दूसरा अर्थ है भरण-पोषण करने वाला। इसी मन्त्र में उन्हें श्वेतवर्णी भी कहा गया है – **'प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि'** (ऋ २.३३.८)। अथर्ववेद में इनके केश नीलवर्णी बतलाये गये हैं –

रुद्र जलाषभेजष नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ।।
(अथर्व २/२७/६)। **(क्रमश:)**

काव्य-लहरी

अक्षर अनश्वर श्री रामकृष्ण देव

से. रा. यात्री

कामारपुकुर की माटी से, अरुणाभ सूर्य उद्दीप्त हुआ ।
घिरती तिमिरावृत भूमि से, अज्ञान युगों का लुप्त हुआ ।।
गुंजायमान दश दिशा हुआ, बंग भूमि का वीणा निनाद ।
तारा मंडल से उदित हुआ, वह देवर्षि हरने विषाद ।।
हुए समाहित सभी रंग, श्री रामकृष्ण की काया में ।
मात स्वरूप माँ काली की, निज वरद हस्त की छाया में ।।
अनमोल निधि सम मिली उन्हें, सारदामणि माँ भार्या स्वरूप।
जगदम्बा का प्रतिरूप थी वह, कौमार्यव्रता, सात्त्विक अनूप ।।
सौ-सौ विग्रह जाग्रत करके, ब्रह्मानन्द विवेक दिए ।
फूँका जागृति का तूर्यनाद, सहसाधिक नरेन्द्र दिए ।।
आएँगे युग युगान्त कल्पान्तर भी, संवत्सर पर संवत्सर ।
पर रामकृष्ण की वाणी का, नि:शेष नहीं होगा-भास्वर ।।
जो हमें दे गए श्रीरामकृष्ण, वह-थाती अनमोल हमारी है ।
इस तिमिरमय कालेपन में, आज्ञा, मशाल, चिनगारी है ।।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

चन्द्रमोहन, टुंडला

आ कलियुग धरती पर जब रामकृष्ण कहलाये थे ।
राम हुये थे कृष्ण वही त्रेता-द्वापर में आये थे ।।
सारदा माँ को साथ में लाए धराधाम पर स्वर्ग बसाया ।
पत्नी की कर माँ सम पूजा, घर में ही संन्यास दिखाया ।।
ब्रह्मचर्यव्रत जीवन भर, आपने भी क्या खूब निभाया ।
कांचन का भी त्याग किया औ काली माँ का दर्शन पाया ।।
सब धर्मों में भेद मिटा, जीव मात्र को गले लगाया ।
सत्य-त्याग की मूर्ति बने तुम वेदों को जीकर दिखलाया ।।
स्पर्शमात्र से पावन करते, ज्ञान प्राप्त हो जाता था ।
जन्मों का अन्धकार पल भर में मिट जाता था ।।
वीर विवेकानन्द गढ़ा यूँ, हिला दिया जग सारा ।
धर्म पुरा नव-जीवन पाया, दुखियों को मिला सहारा ।।
कोमल तन और रक्तकमल थे, वे दो चरण तुम्हारे ।
सपने में भी मैं पी पाऊँ, भर भर कमल पखारे ।।

द्वार तुम्हारे आऊँ

काशी प्रसाद खेरिया, कोलकाता

द्वार तुम्हारे आऊँ
एक दिवस जब जाना निश्चित
गीत आज वह क्यों नहीं गाऊँ ।।
जिससे कर सासें सुस्पन्दित,
महामौन में मौन समाऊँ !
जाने कितने मधुमासों की
होती मंगला इसी पनघट पर ।
आया हूँ पर नहीं जानता,
और भटकना किस-किस तट पर ।।
इस जगती का रंगमंच क्या,
मन प्रपंचों का रंगामन ।
होती कथा महाभारत की,
यहाँ प्रवंचित है रामायन ।।
स्नेह भस्म कर, धुँआ उगलता
हवन कुंड-सा लगता जीवन ।
मेरा जाना, अपना जीना
मान रहे जो वही परिजन ।।
पानी उतरा आँख-आँख पर
क्यों मैं अपनी आँख बहाऊँ ?
सागर में सरि सरिस समाता
जब मैं द्वार तुम्हारे आऊँ ।।

अवतारवरिष्ठ रामकृष्ण

जयश्री नातू, पूना

धनुर्बाण लियो हाथ में, आये दशरथनन्दन राम ।
चक्र सुदर्शन लियो खड़े रे नंद दुलारे श्याम ।।
रामकृष्ण जब आये धरा पर चक्र ना तीर कमान ।
प्रेमसुधा दुई हाथ में लायो, जीत लियो जग धाम ।।
राजपुत्र ना रघुबर जैसे, मानी धनी ना कान्हा जैसे ।
रूखी-सूखी प्रेम से खायो, जो कुछ दियो खुदीराम ।।
हार दियो कौरव दु:शासन, मार दियो लंकापति रावन ।
रामकृष्ण ने पाप घटायो, शस्त्रबिना कियो काम ।।
बनी थी छाया जनक नंदिनी,रुक्मिणी माता थी पटरानी ।
देवी सारदा भार उठायो कार्य कियो पतिनाम ।।

हर ! हर ! काशी विश्वनाथ

डॉ. संध्या त्रिपाठी

प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र, महारानी बनारस महिला महाविद्यालय, रामनगर, वाराणसी

काशी के शिवालयों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान वर्तमान के विश्वेश्वर अर्थात् विश्वनाथ मन्दिर का है। श्री विश्वेशवर ज्योतिर्लिंग उत्तर-प्रदेश जनपद के काशी नगर में अवस्थित है। काशी तीनों लोकों में न्यारी नगरी है, जो भगवान शिव के त्रिशूल पर विराजती है। इसे आनन्दवन, आनन्दकानन, अविमुक्त क्षेत्र तथा काशी आदि अनेक नामों से स्मरण किया गया है। काशी साक्षात् सर्वतीर्थमयी, सर्वसन्तापहारिणी तथा मुक्तिदायिनी नगरी है। निराकार महेश्वर ही यहाँ भोलानाथ श्री विश्वनाथ के रूप में साक्षात् अवस्थित है।

वाराणसी में स्थित प्रतीकात्मक द्वादश ज्योतिर्लिंग

पुराणों में वर्णित है कि विश्वेश्वर (विश्वनाथ) के काशी में स्थापित होने के पश्चात भारत के अन्य ग्यारह लिंग भी प्रतीक रूप में यहाँ स्थानान्तरित हुए। इस प्रकार वाराणसी में भी द्वादश ज्योतिर्लिंग विभिन्न स्थलों पर विद्यमान हुए। ये इस प्रकार हैं –

१. सोमेश्वर	मानमन्दिर मुहल्ले में।
२. मल्लिकार्जुन	सिगरा स्थित।
३. महाकालेश्वर	वृद्धकालेश्वर
४. ओंकारेश्वर	ओकारेश्वर, पठानी टोला।
५. वैद्यनाथ	कमच्छा मुहल्ले स्थित प्रसिद्ध वैजनत्था।
६. भीमशंकर	भीमेश्वर, काशी करवट ।
७. रामेश्वर	रामेशवर, रामकुण्ड
८. नागेश्वर	नागेश्वर, भोंसलाघाट।
९. विश्वेश्वर	विश्वनाथ जी, समीप ज्ञानवापी
१०. त्रयम्बकेश्वर	बड़ादेव मुहल्ले में पुरुषोत्तम भगवान् के मंदिर में।
११. केदारेश्वर	केदारघाट स्थित केदारेश्वर मन्दिर।
१२. घुष्मेश्वर	कमच्छा स्थित बटुकभैरव के समीप घुष्णीश्वर।

इन ज्योतिलिंगों के दर्शन-पूजन का अत्यन्त माहात्म्य है।

काशी विश्वनाथ मंदिर : ऐतिहासिक अवलोकन

काशी विश्वनाथ को विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग के नाम से भी जाना जाता है। विश्वेश्वर का उल्लेख प्राचीन शिवग्रन्थों में इस रूप में नहीं मिलता, जैसा अविमुक्तेश्वर अथवा कृत्तिवासेश्वर का। तथापि छठी शताब्दी तक विश्वेश्वर का प्राचीन शिवायतन स्थापित हो चुका था, जो कालचक्र के प्रवाह में लुप्त हो गया। विश्वेश्वर उस समय प्रधान रूप से पूजनीय अविमुक्तेश्वर का स्थान ग्रहण करते चले गये। लिंगपुराण में विश्वेश्वर शिवलिंग का कोई विशेष माहात्म्य नहीं कहता। उसके अनुसार इनके समक्ष फल देने वाले और शिवलिंग भी वाराणसी में थे। किन्तु गहड़वाल द्वारा विश्वेश्वर का दर्शन तथा ग्रामदान विश्वेश्वर शिवायतन की प्रमुखता सिद्ध करते हैं। बारहवीं सदी में मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप काशी के कई प्राचीन शिवालयों को ध्वस्त किया गया जिनमें विश्वेश्वर, कृत्तिवासेश्वर तथा अविमुक्तेश्वर जैसे माहात्म्य वाले शिवालय भी थे। उस समय विश्वेश्वर का यह मन्दिर अवधूततीर्थ के ठीक नैर्ऋत्य कोण के ऊँचे टीले पर अवस्थित था और वह मन्दिर अपने प्राचीन स्थल से हट गया था। उसके पश्चात् मन्दिर पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में इसे अन्यत्र बनाना पड़ा और यह अविमुक्तेश्वर के प्रांगण में बना, जो पहले से अधिक सशक्त और बृहद् बना। १४ एवं १५ वीं सदी के मुस्लिम आक्रमण के झंझावतों के परिणामस्वरूप पुन: विध्वंस की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जिसमें अवमुक्तेश्वर एवं विश्वेश्वर का मन्दिर भी नष्ट हुआ और दोनों का स्वतन्त्र अस्त्वि पुन: समाप्त हो गया। १६ वीं सदी अकबर के शासनकाल में त्रिस्थली सेतु के संकलनकर्ता नाराणभट्ट की देख-रेख में विश्वेश्वर मन्दिर तीसरी बार तीसरे

काशी विश्वनाथ का स्वर्ण कलश

स्थल पर १५८० में पुन: निर्मित हुआ, किन्तु मुगल शासक औरंगजेब की धर्मान्धिता का यह मन्दिर पुन: शिकार हुआ और उसकी आज्ञा के फलस्वरूप विश्वनाथ का मन्दिर गिरा दिया गया और उसके स्थान पर ज्ञानवापी मस्जिद बनी, जिसका पश्चिमी भाग पूर्ववत् छोड़ दिया गया, जिसे आज भी देखा जा सकता है और मन्दिर के गर्भगृह पर मस्जिद का बरामदा बना दिया गया। आगे चलकर विश्वेश्वर की स्थापना उनके वर्तमान स्थान पर हुई और अविमुक्तेश्वर की उनके गिरे मन्दिर से कुछ ही दूरी पर।

काशी विश्वनाथ मन्दिर : वर्तमान अवलोकन

काशी के उत्तर में ऊँकार खण्ड दक्षिण में केदारखण्ड और मध्य में विश्वेश्वरखण्ड है। इस विश्वेश्वरखण्ड में ही बाबा विश्वनाथ का प्रसिद्ध मंदिर है। ऐसा सुना जाता है कि मन्दिर की पुनर्स्थापना आदिजगदगुरू शंकराचार्य जी ने अपने हाथों से की थी। श्रीविश्वनाथ मन्दिर का मुगल बादशाह औरंगजेब ने नष्ट करके उस स्थान पर मस्जिद बनवा दिया था, जो आज भी विद्यमान है। इस मस्जिद के परिसर को ज्ञानवापी कहा जाता है। प्राचीन शिवलिंग आज भी ज्ञानवापी में ही स्थित है। आगे चलकर भगवान शिव की परम भक्त महारानी अहिल्याबाई ने ज्ञानवापी से कुछ हटकर श्री विश्वनाथ के एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण कराया था । महाराजा रणजीत सिंह ने इस मन्दिर पर स्वर्ण कलश (सोने का शिखर) चढ़वाया था।

काशी विश्वनाथ शिवलिंग

काशी की महिमा

काशी की महिमा के सम्बन्ध में पुराणों में बहुत से उल्लेख मिलते हैं। कहा गया है कि जो मनुष्य श्रीकाशी विश्वनाथ की प्रसन्नता के लिये इस क्षेत्र में दान देता है, वह धर्मात्मा अपने जीवन को धन्य बना लेता है। पंचक्रोशी (पाँच कोस का) को अविमुक्त क्षेत्र विश्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध एक ज्योतिर्लिंग का स्वरूप ही जानना और मानना चाहिए। भगवान विश्वनाथ काशी में स्थित होते हुए भी सर्वव्यापी होने के कारण सूर्य की तरह सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। जो कोई इस क्षेत्र की महिमा से अनभिज्ञ है अथवा इसमें श्रद्धा भी नहीं है, फिर भी जब वह काशी क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वह निष्पाप होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। श्रावण मास में इनके दर्शन-पूजन का विशेष महत्व है।

स्कन्दपुराण से स्पष्ट होता है कि श्रीविश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग किसी मनुष्य की पूजा-तपस्या आदि से प्रकट नहीं हुआ, बल्कि यहाँ निराकार परब्रह्म परमेश्वर महेश्वर ही शिव बनकर विश्वनाथ के रूप में साक्षात प्रकट हुए। उन्होंने दूसरी बार महाविष्णु की तपस्या के फलस्वरूप प्रकृति और पुरुष (शक्ति और शिव) के रूप में उपस्थित होकर उन्हें सृष्टि रचाने तथा जगत को संचालित करने का आदेश दिया। महाविष्णु के आग्रह पर ही भगवान शिव ने काशी क्षेत्र को अविमुक्त कर दिया। उनकी लीलाओं पर ध्यान देने से काशी के साथ उनकी अतिशय प्रियशीलता स्पष्ट मालूम होती है। इस प्रकार द्वादश ज्योतिर्लिंगों में श्रीविश्वेश्वर भगवान विश्वनाथ का शिवलिंग सर्वाधिक प्रभावशाली तथा अद्भुत शक्ति-सम्पन्न लगता है। माँ अन्नपूर्णा (पार्वती) के साथ भगवान शिव साक्षात विराजमान हैं। प्रलयकाल में काशी नगरी का विनाश नहीं होता है। इस समय भगवान् शिव अपने त्रिशूल पर काशी को धारण करते हैं और कल्प के प्रारम्भ में अर्थात सृष्टि रचना के प्रारम्भ में उसे त्रिशूल से पुन: भूतल पर उतार देते हैं। शिव महापुराण में भी विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग की महिमा कुछ इस प्रकार बताई गई है – "रामेश्वर शिव ने माँ पार्वती के पूछने पर स्वयं अपने मुख से श्रीविश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग की महिमा कही थी। उन्होंने कहा कि वाराणसी पुरी हमेशा के लिये गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त रहस्यात्मक है तथा सभी प्रकार के जीवों की मुक्ति का कारण है।"

स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीकाशी विश्वनाथ जी कहते हैं –

"विश्वनाथे द्वहंनाश काशिका मुक्ति काशिका।
सुधातरङ्गा स्वर्गमङ्गा त्रय्येषा किम् यच्छति।"

अर्थात मैं विश्वनाथ ही नाथ हूँ, काशी मुक्ति काशिका है, स्वर्ग गंगा अमृत की तरंग है, ये तीनों क्या नहीं दे सकते। काशी में शिव के निवास करने के कारण माँ गंगा ने भी अपना मार्ग बदल दिया एवं काशी होते हुए उत्तर वाहिनी हुईं। (शेष भाग पृ. ९४ पर)

त्यज रागं परिव्रज

स्वामी आनन्दपुरी जी महाराज

(परामात्माश्रित जीवन व्यतीत करने हेतु इन श्लोकों को लिखकर अपने हरिद्वार के कमरे में छोड़कर पूज्यपाद आनन्दपुरीजी महाराज जी बिना किसी को बताये अज्ञातवास हेतु प्रस्थान किये थे। आत्मज्ञ पुरुष प्रारब्धावलंबन कर सानन्द विचरण कर रहे थे। सं.)

ॐ नमः शिवरूपाय विश्वात्मानन्दमूर्तये ।।

वाते विजृम्भिते दीपो यथा निर्वाणमृच्छति

उच्छ्रिते च तथा रागे नात्मधीस्स्थातुमर्हति ।।१।।

– जैसे वायु के बढ़ने पर दीप बुझ जाता है, वैसे ही आसक्ति के बढ़ जाने पर आत्मज्ञान भी स्थिर नहीं रहता।

ज्ञानमात्रादतो मोक्षो
नाविरक्तस्य सिद्ध्यति ।
दोषदृष्टिं विना रागो
न निवर्तेत् कर्हिचित् ।।२।।

– अत: जो विरक्त नहीं है, उसे केवल ज्ञान से मोक्ष सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दोष-दृष्टि के बिना कहीं भी आसक्ति निवृत्त नहीं होती।

कार्यस्य गुणदोषा ये
ते मताः कारणाश्रिताः ।
संसारकारणं चित्तं
तस्मात्तदपि दोषभाक् ।।३।।

– कार्य में जो भी गुण-दोष हैं, वे कारणगत ही माने जाते हैं। संसार का कारण चित्त है, इसलिये वह भी (चित्त भी) दोष का भागी है।

अहङ्कारादिभूमध्यसुखान्तत्याग इष्यते ।

पारिव्राज्यमतो युक्तं पारतन्त्र्यं सुदुःसहम् ।।४।।

– अंहकार से लेकर मध्यस्थ पृथ्वी और अन्तस्थ सुखपर्यन्त का त्याग वांछित है। अत: पारिव्राज्य जीवन ही उचित है। क्योंकि परतन्त्रता असह्य होती है।

तस्मादज्ञातमेकान्तमटन् प्रारब्धभोगतः ।

यत्र क्वचन निर्मोको? देहस्येति विनिश्चयः ।।५।।

– इसलिये अज्ञात एकान्त स्थान पर विचरण करते हुए प्रारब्ध भोग के अन्त में जहाँ कहीं भी शरीर का त्याग होना निश्चित है, वही होगा, यह ध्रुव सत्य है।

स्थिरधीरनिकेतोऽपि कुतो विभ्यति शोचति?

अनात्मस्वात्मधीर्यावत् स तावत्कर्मकिङ्करः ।।६।।

– आश्रय रहित होते हुये भी जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह किससे शोक करता है और किससे डरता है? व्यक्ति जब तक अनात्मा में आत्म-बुद्धि रखता है, तब तक वह कर्मकाण्ड का दास ही है।

अनुतिष्ठतु स्वस्थोऽपि मा वा तस्यैच्छिकं हि तत्

अभावे जीवभावस्य क्व षोडश्यादिकल्पना ।।७।।

– स्वस्थ (आत्मज्ञानी) कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करे या न करे, यह उसकी इच्छा पर है। जीवभाव के न रहने पर षोडशी (श्राद्ध) आदि की कल्पना कहाँ?

जडचित्योर्न सा युक्ता
नातः कार्या विचारणा ।
अन्यारोपितजीवत्वम-
किञ्चित्करमिष्यते ।।८।।

– जड़ और चेतन दोनों में कल्पना नहीं जुड़ सकती, अत: इसका विचार भी नहीं करना चाहिये। दूसरों के द्वारा आरोपित जीव-भाव व्यक्ति का कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

अनिकेतो ह्यमृग्यः स्यां
खे खगस्य पदाङ्कवत् ।
प्राप्तव्यं लभते मर्त्यो
नाभाव्यं भावितां व्रजेत् ।।९।।

– निवास-स्थान न होने से आकाश में पक्षी के पद-चिह्न की तरह मैं खोजा जाने योग्य नहीं हूँ। मनुष्य का प्राप्तव्य उसे मिलेगा ही और जो न होनेवाला है वह कभी होगा नहीं।

बाहुनाऽत्र किमुक्तेन स्वार्थे सर्वः प्रवर्तते।

सर्वे स्वसुखमिच्छन्ति सैषा विधिविडम्बना ।।१०।।

– बहुत क्या कहूँ ! सब लोग अपने-अपने स्वार्थ में रत रहते हैं। विधि की विडम्बना देखो कि सभी लोग अपने-अपने सुख की ही इच्छा करते हैं।

आम्नातमानन्दपुरीतिनाम्ना
गुरोर्महिम्नाऽधिगतात्मधाम्ना ।
साम्ना विधानेन पठन्द्रढिम्ना-
ऽभिदां स भूम्ना लभतेतमाम्ना ।।११।।

– गुरु-महिमा से प्राप्त आत्मज्ञानवान आनन्दपुरी नामक व्यक्ति द्वारा कहे गये इन श्लोकों को साम-गान के विधान के अनुसार पढ़नेवाला व्यक्ति, भूमा-ब्रह्म के साथ अत्यन्त अभेद को दृढ़ रूप से प्राप्त करता है।

विवेकानन्द रथ का छत्तीसगढ़ प्रवास

एक रथ-यात्री की डायरी से

सोमवार, दिनांक २७ जनवरी, २०१४

आज ८.४५ में रथ का स्वागत सर्वप्रथम **श्रीरामकृष्ण स्कूल, मंगलबाजार** में वहाँ के बच्चों, अध्यापक-अध्यापिकाओं द्वारा किया गया। बच्चे रथ के आगे-आगे लाइन से चलते हुये स्वामीजी के नारे लगाते हुये आश्रम से रथ को अपने स्कूल ले गये और वहाँ आरती-पूजन किया।

प्रणवानन्द एकेडमी, माना रोड, रायपुर में ९.३० बजे रथ का स्वागत वहाँ के छात्र-छात्राओं ओर विद्यालय के संचालकों द्वारा किया गया।

स्वामी विवेकानन्द हवाई अड्डा, रायपुर में रथ १० बजे पहुँचा। वहाँ के निदेशक श्री अनिल राय जी ने अपने समस्त विभागीय पदाधिकारियों, कर्मचारियों के साथ रथ में स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति पर पुष्प-माल्यार्पण कर भव्य स्वागत किया। स्वामीजी का रथ हवाई अड्डे पर १.३० घंटे रहा और यात्रियों को अद्भुत आनन्द देता रहा। पुराने हवाई अड्डे पर सेमीनार कक्ष में एक सभा का आयोजन था। उसमें श्री अनिल राय जी और स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों से सबको अवगत कराया। सबको भोजन जैसा नाश्ता कराने के बाद रथ आगे की ओर प्रस्थान किया।

विवेकानन्द क्लब, माना कैम्प, रायपुर, विवेकानन्द हाई स्कूल, माना कैम्प, रायपुर, माना हाई स्कूल, माना कैम्प, रायपुर, इन स्थानों में रथ ११.४५ से १२.३० तक घूमता रहा। समयाभाव के कारण वहाँ अल्पकालीन सभायें भी हुईं, जिसमें स्वामी सत्यरूपानन्द जी और विधायक श्री सत्यनारायण शर्मा जी और संस्था के अन्य पदाधिकारियों ने संबोधित किया। उसके बाद माना बस्ती की ओर बढ़ चला।

माना हाई स्कूल, माना बस्ती, रायपुर में रथ १ बजे से २.४५ तक रहा। वहाँ बच्चों ने व्याख्यान दिये और अन्त में स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने बच्चों को जय-जगत गीत गवाया और स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों से अवगत कराया।

मैट्स यूनिवर्सिटी, रायपुर में ३.३० बजे रथ पहुँचा। वहाँ के यशस्वी कुलपति श्री एस.के. सिंह जी ने अपने विश्वविद्यालय परिवार के साथ रथ का भव्य स्वागत किया और एक सभा भी आयोजित की, जिसमें काफी संख्या में उनके विश्वविद्यालय के छात्र-छात्रायें उपस्थित थे। कुलपति जी ने छात्र-छात्राओं के हितार्थ अपनें विचारों से अवगत कराया। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने बच्चों को नैतिक मूल्यों को अपनाने की शिक्षा दी।

मंगलवार, दिनांक २८ जनवरी, २०१४

राजकुमार कॉलेज, रायपुर में ९.०० बजे रथ पहुँचा। वहाँ के क्रीडा-प्रांगण में वहाँ के प्राचार्य श्री जे.बी.सिंह ने अपने शिक्षकों और तेजस्वी छात्रों के साथ स्वामीजी के रथ पर पुष्पार्पण किया और स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने बच्चों को महानता के गुणों से अवगत कराया।

भारतमाता स्कूल, टाटीबंध के प्रांगण में १० बजे रथ पहुँचा। वहाँ की प्राचार्या महोदया ने बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से अपने सारे बच्चों को खड़ा करके पुष्प-हार से स्वामी विवेकानन्द जी का स्वागत किया। उस स्कूल के बच्चे इतने खुश हो गये कि उनकी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति को नियन्त्रण में लाना कठिन हो गया। कुशल प्रशासन के सुनियन्त्रण में बड़ी भव्य सभा हुयी और वहाँ की प्राचार्या ने स्वागत और धन्यवाद दिया। स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने वहाँ बच्चों से गीत गवाया और महान बनने का संकल्प दिलाया। उसके बाद रथ पुन: आश्रम आ गया और भोजनोपरान्त पुन: वहाँ से १६ किलोमीटर दूर पत्रकारिता विश्वविद्यालय के लिये प्रस्थान किया।

कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय, रायपुर में २.०० बजे रथ पहुँचा और वहाँ ३.१५ तक रहा। वहाँ के छात्र-छात्राओं ने स्वामीजी की मूर्ति पर फूल बरसा कर स्वागत किया। उसके बाद विश्वविद्यालय के प्रेक्षागृह में सभा हुई, जिसमें स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी और अन्य लोगों ने व्याख्यान दिये। विश्वविद्यालय के कुलसचिव जी ने आभार व्यक्त किया। इसके बाद रथ सेजबहार इंजिनियरिंग कालेज के लिये प्रस्थान किया।

शासकीय इंजिनियरिंग कॉलेज और भारतीय प्रबंधन संस्थान, सेजबहार, रायपुर में ३.३० बजे पहुँचा। वहाँ इंजिनियरिंग कॉलेज के प्रिन्सिपल श्री बी. एस. चावला जी ने स्वामीजी की मूर्ति पर माल्यार्पण किया और सबने स्वामीजी की मूर्ति पर पुष्पवृष्टि की। तत्पश्चात् कॉलेज के सभागृह में स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी, कुमारी निहारिका अग्रवाल और अन्य लोगों ने व्याख्यान दिये। सभा ५ बजे तक चली। प्रिन्सिपल श्री चावला जी ने धन्यवाद ज्ञापित किया। इस सभा के साथ ही आज की रथ-यात्रा समाप्त हुयी। वहाँ से रोड-शो करते

हुये हमलोग आश्रम आ गये।

बुधवार, दिनांक २९जनवरी, २०१४

दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर में रथ ११.३० बजे पहुँचा और १२.३० बजे तक रहा। वहाँ सबसे पहले वहाँ के एन. सी. सी. के छात्रों ने मार्च करते हुये रथ का स्वागत किया। तदनन्तर कॉलेज के प्राचार्य डॉ. एस. एस. खनूजा और श्री सुभाष चन्द्राकर जी ने अपने महाविद्यालय परिवार के साथ स्वामीजी की मूर्ति पर माल्यार्पण किया। आज इस महाविद्यालय का वार्षिकोत्सव था। इस पावन दिवस पर स्वामीजी के रथ को पाकर सभी लोग आनन्दित थे। प्राचार्य जी ने सबका स्वागत किया। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने बच्चों को उनके जीवन लक्ष्य से अवगत कराया और अन्त में डॉ. सुभाष चन्दाकर जी ने जोश के साथ धन्यवाद ज्ञापन किया। इसके बाद रथ आगे बढ़ गया।

अग्रसेन कॉलेज, रायपुर में १.०० बजे रथ पहुँचा। वहाँ के प्राचार्य डॉ. समीर ठाकुर जी ने अपने छात्र-छात्राओं के साथ स्वामीजी की मूर्ति पर माल्यापर्ण और पुष्प चढ़ाकर रथ का स्वागत किया। स्वामी सत्यरूपानन्द जी, श्रीमती जनस्वामी, प्रो. आभा दूबे और अन्यों ने विचार व्यक्त किये और प्राचार्य जी ने बच्चों को स्वदेश मन्त्र की शपथ दिलायी।

प्रगति कॉलेज, रायपुर में रथ २.०० बजे से ३.०० बजे तक रहा। यहाँ की प्राचार्या श्रुति झा ने अपने कॉलेज परिवार के साथ रथ का स्वागत किया और स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने व्याख्यान दिये।

मायाराम सुरजन शासकीय कन्या विद्यालय, रायपुर में ३.०० बजे रथ के पहुँचते ही ६ बच्चे स्वामीजी के ड्रेस में सजकर रथ में स्थित स्वामीजी की मूर्ति पर पुष्प बरसा रहे थे। उसके बाद वहाँ की प्राचार्या श्रीमती विनोदबाला हाजरा ने अपने अन्य अध्यापिकाओं के साथ स्वामीजी का पुष्प-माल से स्वागत किया। उसके बाद सभा उन्मुक्त परिसर में आरम्भ हुयी। बच्चों ने 'देश है पुकारती, पुकारती माँ भारती' नामक गीत गाया। उसके बाद स्वामी सत्यरूपानन्द जी और प्रपत्त्यानन्द ने सभा को संबोधित किया। वहाँ से ४.३० बजे तक कार्यक्रम चलता रहा। आज का रथ-भ्रमण सम्पन्न हुआ

गुरुवार, दिनांक ३० जनवरी, २०१४

गुरुकुल महिला महाविद्यालय, रायपुर में रथ १० बजे से १०.३० बजे तक रहा। वहाँ की प्राचार्या सन्ध्या गुप्ता ने पुष्पमाल चढ़ाकर स्वामीजी का स्वागत किया। विद्यालय की छात्रायें-अध्यापिकायें बड़े हर्ष से स्वामीजी के नारे लगाते हुये फूल बरसा रहे थे। उसके बाद उसी परिसर में स्थित कन्या उ.मा.शाला ने रथ का स्वागत किया। वहीं पर दूरदर्शन ने साक्षात्कार लिया और शाम को अपने चैनल पर प्रसारित किया। **(क्रमशः)**

(पृ. ७९ का शेष भाग)

५४. शरणागति ओ सेवा (बँगला), सं. १९९६, पृ. ७४; ५५. स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ६६; युगनायक विवेकानन्द, १/२५२; ५६. युगनायक विवेकानन्द, १/२५३; ५७. अध्यात्म-मार्ग-प्रदीप, नागपुर, प्र.सं., पृ. १७३; ५८. स्वामी शुद्धानन्दजी की डायरी (रामकृष्ण मठ आदिकथा, स्वामी प्रभानन्द, पृ. २९७); युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २५२; श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, भाग २, पृ. १०२-३; ५९. स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ६६; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २५३; विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, भाग २, पृ. १०६

(पृ. ९१ का शेष भाग)

इस प्रकार माँ गंगा के किनारे बसी हुई माँ अन्नपूर्णा सहित भोलेनाथ बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी अतीव दिव्य है, मोक्षदायिका है और तीनों लोकों से विलक्षण है। श्री विश्वेश्वर विश्वनाथ का यह ज्योतिर्लिंग साक्षात भगवान परमेश्वर महेश्वर का स्वरूप है, यहाँ भगवान शिव सदा विराजमान रहते हैं।

काशी के समस्त देवी देवताओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण काशी विश्वनाथ जी का मन्दिर जिन्हें काशी अधिक प्रिय है, भगवान शिव इसको कभी नहीं छोड़ते। शिव एवं काशी एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं।

''शिवः काशी शिवः काशी, काशी काशी शिवः शिवः।''

अति शीघ्र प्रसन्न हो जाने वाले तथा दर्शन देकर कृतार्थ करने वाले भोले-भाले कल्याणस्वरूप भगवान् विश्वनाथ की श्रद्धापूर्वक की गयी उपासना अपने भक्तों का कल्याण करती है।

आज भी गंगा के किनारे दशाश्वमेघ घाट पर एक सामान्य व्यक्ति भी यह कहते मिल जाता है कि –

चना चबेना गंगजल, जो पूरवे करतार।
काशी कबहुँ न छोड़ियो, विश्वनाथ दरबार।।

संदर्भ सूचीः

१. स्कन्दपुराण का काशी खण्ड **२.** डॉ. सीमा मिश्रा, 'काशी में शिव पूजा', किशोर विद्यानिकेतन वाराणसी, २००९ **३.** डॉ. गिरीशचन्द्र त्रिपाठी, 'भगवान शिव और उनके द्वादश ज्योतिर्लिंग' हिन्दूलॉजी बुक्स, दिल्ली २०१२

OOO

अभय ज्ञान प्रबोध

अभय ज्ञान प्रबोध
प्रवक्ता,
स्वामी अभयानन्दजी सरस्वती
प्रकाशक – श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट, पो. – ओंकारेश्वर, जिला – खंण्डवा, (म.प्र.)
फोन नं. – ०७२८०–२७१२६७, ९८२७८१३७११, ९४२५९३९५६७ ।
पृष्ठ – ११२, मूल्य – ५०/-

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था कि बहुत से ऐसे सन्त हैं, जिन्हें समाज जानता तक नहीं है, किन्तु उन लोगों ने हिमालय की कन्दराओं में बैठकर ही समाज की बहुत बड़ी सेवा की है। ऐसे सन्त जन-समुदाय में प्रथित नहीं होते, लेकिन उन ब्रह्मज्ञानी महात्माओं के सत्संकल्प से ही समाज को दिशा मिलती है। जो लोग उनके सम्पर्क में आते हैं, उनके सदाचरण से ही उनका दिव्य सन्देश समाज में पहुँचता है। इससे समाज और राष्ट्र नव-जीवन प्राप्त करता है। ऐसे ही महात्मा थे, पूज्यपाद परम विरक्त ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत् स्वामी अभयानन्द सरस्वतीजी महाराज। स्वामी अभयानन्द जी महाराज पूज्यपाद वीतरागी ब्रह्मज्ञ संन्यासी स्वामी रामानन्द सरस्वती जी महाराज के गुरुदेव थे। स्वामी रामानन्द जी महाराज से सन्त समुदाय एवं भक्त-समाज दोनों ही परिचित हैं। स्वामीजी महाराज की प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से उनके अगाध ज्ञान, उनकी ईश्वरनिष्ठा और वृद्धावस्था में भी उनके एकाकी परिव्राजक जीवन से उनके परमात्माश्रित जीवन का संकेत मिलता है। ऐसे महान सन्त स्वामी रामानन्द जी महाराज के गुरु थे स्वामी अभयानन्द जी महाराज। काशी धर्मसंघ महामहामण्डल के यतिचक्रचूड़ामणि स्वामी करपात्री जी महाराज इन्हें 'कलियुग के वशिष्ठ' कहा करते थे। ऐसे वीतराग लोकसंकुल से दूर महात्माओं की वाणी एवं उपदेशों का संकलन करना या उनके बारे में कोई जानकारी प्राप्त करना तत्कालीन परिस्थितियों में कितना कठिन था, इसका सहज ही अनुमान लगाय जा सकता है। फिर भी बड़े ही परिश्रम से एवं कठिनता से मार्कण्डेय आश्रम के सन्तद्वय स्वामी महेशानन्द सरस्वती और स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती जी ने उनके उपदेशों का संकलन एवं ब्र.किशोरचैतन्य और स्वामी आशुतोष भारती ने सम्पादन कर पुस्तकाकार में समाज को उपलब्ध कराया, इसके लिये वे धन्यवादार्ह, प्रणम्य हैं।

इस पुस्तक में पूज्यपाद स्वामी अभयानन्द जी के विभिन्न प्रवचनों के कुछ अंश और कुछ जिज्ञासु साधकों के लिखे गये पत्र हैं। उनके कुछ अंश निम्नलिखित हैं। साधक जीवन का मेरुदण्ड 'सत्य' पर महाराजजी कहते हैं –

"जो सत्य बोलता है, उसका सन्मित्र उसके साथ है। वह चाहे जहाँ विचरे समूची पृथ्वी उसका आराम स्थल है।

सत्यवादी ही जितेन्द्रिय हो सकता है। सत्यवादी-जितेन्द्रिय ही मन को वश में कर सकता है।

"मन को वश में कर लेने पर विशुद्ध बुद्धि का विकास होता है। विशुद्ध बुद्धि में जब विवेक उदय होता है, तब मोहान्धकार दूर हो जाता है।"

प्रेम की नई परिभाषा देते हुए महाराज जी कहते हैं –

"प्रेम का मूल, देह-गेह में समता है। ईश्वर सत्य है, चेतन है, वही सर्वदेहों में एक है।

एक स्वास है, ज्ञान है एक।
कर्म विविध पर, अनुभव है एक।।"

परमात्मसुखज्ञाता की महिमा बताते हुए कहते हैं –

परमात्म सुख का अनुभव करनेवाला समग्र विश्व के सुख को भी तुच्छ समझता है, फिर क्षणिक विषयसुख में वह क्यों लुब्ध होगा? अज्ञानावृत्त प्राणी ही मृगतृष्णा जलतुल्य विषयसुख में परम पुरुषार्थ मानता है तथा उन्हीं में निमग्न रहता है।"

"अयोग्य पर दया निष्फल होती है। इसी कारण दयासागर प्रभु सब कुछ देखते हुए भी दया प्रकट नहीं करते। मनुष्य-शरीर दया करके प्रभु ने दिया है। प्रकृष्ट अधिकारी ही इससे लाभ लेता है और इसे प्रभु-दया समझता है।

दया करि परमेश्वर ने, मानव तन दे दान।
मानव माया वश हुआ, समझत नहीं भगवान।।
ईश कृपा को समझ ले, बिरला कोई सन्त।
पशु समान बहु जगत में भय, लोभ को अन्त।।"

एक जिज्ञासु के पत्र में कुछ दोहे बड़े अच्छे हैं –

यह शरीर महादेव का देवालय है तात।
इन्द्रिय प्राण सब सहचर जीव देव प्रख्यात।।
सब देहों में एक ही चिदानन्द महादेव।
जिमि घट कोटि एक रवि सदा एक रस देव।।

ऐसी प्रेरक उक्तियों से पूर्ण है यह पुस्तक। यह पुस्तक साधकों का हृदय-हार बने और इसके माध्यम से महाराजजी की कृपा साधकों पर वर्षित हो, ऐसी शुभकामना है। हरि ॐ !

गुजरात में भगवान श्रीरामकृष्ण देव के सार्वजनीन मन्दिर का प्राण-प्रतिष्ठा समारोह

संन्यासी सम्प्रदाय की चिर-अभिलषित ईश्वर-आश्रित भिक्षावृत्ति का अनुसरण करने हेतु एवं भारत की सामाजिक और आध्यात्मिक धरोहर से अवगत होने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने परिव्राजक के रूप में पूरे देश का भ्रमण किया था। वे जहाँ कहीं भी जाते, लोग उनके असाधारण व्यक्तित्व से बरबस मुग्ध हो जाते। वे वहाँ के दीन-हीन, निर्धन, पददलित, असहाय लोगों की व्यथा सुनते; साथ ही वहाँ के राजा-महाराजाओं से शिक्षा, संस्कृति, धर्म, समाज-व्यवस्था आदि विषयों पर चर्चा करते। १८९१ ई. में स्वामीजी गुजरात स्थित लींबड़ी में आये और वहाँ के महाराजा ठाकुर श्री यशवंतसिंहजी से उनकी मुलाकात हुई। कालान्तर में राज-परिवार और स्थानीय भक्तों के प्रयासों द्वारा १९९४ ई. में रामकृष्ण मिशन, लींबड़ी का नवोदय हुआ, जहाँ अनेकों लोकोपकारी सेवाकार्य हो रहे हैं। **१ नवम्बर, २०१४,** जगद्धात्री पूजा के पवित्र दिवस पर आश्रम परिसर में भगवान श्रीरामकृष्ण के सार्वजनीन मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। समारोह में देश के विभिन्न भागों से लगभग १८० साधु-ब्रह्मचारीगण एवं १५०० भक्तों ने भाग लिया।

प्रथम दिवस : कार्यक्रम का प्रारम्भ ३१ अक्तूबर, २०१४, स्वामी विनिर्मुक्तानन्द एवं स्वामी कृपाकरानन्द के भक्तिपूर्ण भजनों से हुआ। गुजरात राज्य डांडिया-नृत्य के लिए प्रसिद्ध है, इसलिए विभिन्न मण्डलियों ने यह नृत्य प्रस्तुत किया। लींबड़ी के जय द्वारकाधीश मलधारी रास मण्डल के कलाकारों ने सुन्दर ढंग से गुजराती कला एवं नृत्य संस्कृति को प्रस्तुत किया। कच्छ स्थित अन्तर्राष्ट्रीय लोकगायक श्री मुरालाल मारवाड़ ने सह-कलाकारों के साथ कच्छी शैली में भजन गाये। मेर रास मण्डल, पोरबन्दर के कलाकारों ने तलवार, लाठी, डांडिया द्वारा नृत्य-गीत को प्रस्तुत कर श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। अन्त में जूनागढ के प्रसिद्ध कलाकार हरिओम पंचोली ने शिव-विषयक भजनों पर कलात्मक नृत्य कर सबको भावाभिभूत कर दिया।

द्वितीय दिवस : समारोह के सबसे मुख्य दिवस १ नवम्बर, २०१४, जगद्धात्री पूजा के पावन अवसर पर नवीन मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा का अनुष्ठान आरम्भ हुआ। पुराने मन्दिर की प्रात:कालीन मंगलारती के बाद सभी साधु-ब्रह्मचारी वैदिक मन्त्रोच्चार के साथ, भजन गाते, नृत्य करते हुए नवीन मन्दिर की परिक्रमा करने लगे। विभिन्न प्रान्तों से आए भक्त भी रामकृष्ण जय-ध्वनि करते हुए परिक्रमा में सम्मिलित हुए। परिक्रमा के अन्त में मंगलमयी शंख-ध्वनि और वैदिक मन्त्रोच्चारण के बीच रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वागीशानन्द जी ने नये मन्दिर का लोकार्पण किया एवं भगवान श्रीरामकृष्ण देव एवं श्रीमाँ सारदा की आरती की।

इस शुभावसर पर लींबड़ी नगर में श्रीरामकृष्ण देव, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द के चित्रों को फूलों से सजाकर एक शोभा-यात्रा निकाली गयी, जिसमें साधु-ब्रह्मचारियों एवं भक्तों ने भाग लिया। शाम को श्रीमत् स्वामी वागीशानन्द महाराज जी की अध्यक्षता में धर्मसभा आयोजित हुई। सन्ध्या-आरती के बाद स्वामी विवेकानन्द के ऊपर अद्वैत आर्ट्स्, राजकोट ने एक नाटक किया और बेंगलोर के दत्तात्रेय वेलणकर द्वारा भजन-सन्ध्या का आयोजन हुआ।

तृतीय दिवस : समारोह के समापन दिवस, २ नवम्बर, २०१४ के प्रात: काल सत्र में स्वामी दिव्यव्रतानन्द जी एवं स्वामी कृपाकरानन्द जी भक्तिपूर्ण भजन गाए। मन्दिर में श्रीचण्डी होम का भी अनुष्ठान किया गया। सबेरे १० से १२ बजे रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के महासचिव श्रीमत् स्वामी सुहितानन्दजी महाराज की अध्यक्षता में एक धर्मसभा आयोजित की गई। रामकृष्ण संघ के विभिन्न आश्रमों से आये संन्यासियों ने अपनी ओजस्वी वाणी में अपने विचार व्यक्त किये, यथा - स्वामी गिरीशानन्द, व्यवस्थापक, बेलूड़ मठ; स्वामी सर्वलोकानन्द, स्वामी श्रीकान्तानन्द; स्वामी सर्वस्थानन्द, स्वामी विश्वात्मानन्द, बेलूड़ मठ इत्यादि। शाम को श्री हितेशभाई पण्ड्या, लींबड़ी ने स्वामी विवेकानन्द के ऊपर एकांगी नाटक एवं गेलेक्सी एज्युकेशन सिस्टम, राजकोट ने भजन प्रस्तुति किया। अन्त में रामकृष्ण मिशन, लींबड़ी के अध्यक्ष स्वामी आदिभवानन्द जी ने कार्यक्रम की सफलता के लिए सबको धन्यवाद ज्ञापन किया। ○○○